—: विषय-सूची :—

प्रस्तावना

'साहित्य' उसे कहते हैं जो स + हित हो और 'हित' (धा + क्त) वह है जो धारण किया जाय या जिस में धारण करने की क्षमता हो। दूसरे शब्दों में 'हित' शब्दों में संरक्षण का भाव है। जो बात या वस्तु किसी का किसी रूप में संरक्षण कर सकती है वह उसके लिए हित है; और जो वस्तु मानव जाति के संरक्षण तथा प्रतिष्ठा के तत्त्वों का सामूहिक भाव से योग धारण करती है वह 'साहित्य' है।

मानव जाति का विकास तथा उसकी प्रतिष्ठा उसके भावों तथा विचारों के विकास और प्रतिष्ठा की प्रतीक है। मानव मानव ही अपनी भाव-सम्पत्ति तथा विचार-सम्पत्ति के आधार पर है। विचार और भाव अनुभव और अनुभव के उपयोग से समृद्धिमान् होते हैं। इसीलिए विद्वान् लोग कहते हैं कि मानव जाति की अनुभूतियों का युगयुगान्तर--सञ्चित जो कोष है वही 'साहित्य' कहलाता है यह कोष वर्णमाला की सुगठित पिटारियों में रक्खा जाता है।

भावानुभूति के संचय का नाम "कविता" पड़ गया। कविता या काव्य साहित्य का एक अङ्ग है कविता साहित्य का इतना प्रमुख अङ्ग है कि प्राय: 'साहित्य' शब्द का प्रयोग काव्य-साहित्य अथवा ललित साहित्य के ही अर्थ में कर लिया

जाता है। और यदि देखा भी जाए तो साहित्य का उदय कविता से ही हुआ है। संसार के किसी साहित्य को देख लीजिए, उसके प्रारम्भिक युगों में आपको कविता का ही निर्माण किया गया दिखाई देगा। सच बात यह है कि भाव और विचार के बीच भाव ही अधिक मौलिक, प्रबल और तीव्रतर तत्व है जो मनुष्य-व्यक्ति ही नहीं, बल्कि विश्वभर की सत्ता और स्थिति को आन्दोलित करते रहने की सामर्थ्य रखता है। विचार उसका सहायक होता है, सलाहकार अथवा मन्त्री के रूप में उसको प्रभावित और परिष्कृत भी करता है, परन्तु भाव विचार का शासन करता है। मानव जाति की अनुभूतियों के इतिहास और उसके पथ-प्रदर्शक की हैसियत से काव्य की शक्ति अद्वितीय है और उसका स्थान अग्रणी का स्थान है।

भाव का सम्बन्ध मनुष्य की सहज प्रवृत्तियों, उसकी रुचियों और अरुचियों से है। यह आसक्ति का व्यापार है। हमारी प्रवृत्तियाँ, रुचियाँ, आसक्तियाँ हमको प्रिय लगती हैं। हमारे भाव हमको प्रिय हैं। हमारे भावों की कथा भी हमको प्रिय है। इसीलिए कविता लोगों को अच्छी लगती है।

जो हमें अच्छा लगता है उसे हम सुन्दर कहते हैं। हमारी प्रवृत्तियाँ आदि अर्थात् भाव, हमारे लिए सुन्दर हैं। उनकी कथा भी सुन्दर है। इसीलिए कविता में हम सौन्दर्य की तलाश करते हैं। कविता सुन्दर होती है। कविता में सौन्दर्य होता है,

या होना चाहिये, इसी हेतु से काव्य-साहित्य अथवा भाव-साहित्य को ललित साहित्य कहते हैं।

यह सौंदर्य अपने मूल अंतरंग रूप में भाव-सौंदर्य है। परन्तु बाह्य, भौतिक, रूप में भी उसकी कामना का अभिलक्षित होजाना सहज है। कविता का भौतिक सौंदर्य नाद-सौंदर्य है जो संगीत का लक्षण है। अतः कविता में पद्य देखा जाता है। भाव-सौंदर्य की दृष्टि से संगीत अथवा पद्य अनिवार्य नहीं है, परन्तु सहयोगी सौंदर्यों के परस्पर-साधनत्व में एकाधिक सौंदर्यों का मेल शोभा-वृद्धि का हेतु बनकर स्वाभाविक-सा तो हो जाता है। संगीत में भी तो हम भाव-सौंदर्य की कामना कर लेते हैं। इसी प्रकार कविता में भी भाव-सौंदर्य के साथ-साथ नाद-सौंदर्य अथवा पद्य का रहना स्वाभाविक-सा होगया है। और जिस प्रकार भाषा को भाव अथवा विचार की अनुगामिनी कहा गया है उसी प्रकार कविता में भाषा के उपलक्षण, नाद-सौंदर्य, को भाव-सौंदर्य का अनुगामी मानना आवश्यक है। भावों के अनुरूप विशेष-विशेष प्रकार के छन्दों का उपयोग कविता में वांछनीय है। भाषा की वर्णावली या पदावली की भांति ही चुने हुए छन्दों का प्रयोग भी भावानुरूप गुणों, माधुर्य आदि, का सम्पादक होता है।

भाव-सौंदर्य, नाद-सौंदर्य और भाषा के प्रयोगों की समीचीनता के विषय में काव्यशास्त्र, छन्दशास्त्र, व्याकरण

थोड़ा-बहुत ज्ञान अवश्य होना चाहिए, जो इन विषयों के श्रेष्ठ ग्रन्थों के अध्ययन से हो सकता है। परन्तु यह ध्यान रखना चाहिये कि कोई भी शास्त्र प्राकृतिक नियमों की भांति स्थायी और अपरिवर्तनीय नहीं है जिस प्रकार समय परिवर्तनीय है उसीप्रकार समय-समय के आचरण और व्यवहार की धारायें भी परिवर्तनीय हैं। अतः यह सर्वत्र देखने में आता है कि सदा किसी एक ही आदिम शास्त्र का अनुसरण क़ायम नहीं रहता। उदाहरण के लिये, वर्तमान समय में प्राचीन शास्त्रीय छन्दों—नियमों की अवहेलना, खड़-छन्द आदि का व्यवहार, वर्तमान समय के किसी प्रभाव विशेष का ही द्योतक है: फलतः खड़ छन्द की भी कोई अपनी विशेषता है परन्तु इससे यह न समझ लेना चाहिये कि शास्त्र के साथ-साथ मूल तत्वों में भी परिवर्तन होजाता है। मूल तत्व जिन पर समाज की, मानवता की, साहित्य की, स्थिति अनिवार्यतः निर्भर है परिवर्तनीय नहीं है। मानवता के स्थिति-रूप भावादिक तत्व सदा और सर्वत्र एक ही रहते हैं कौन-सा कवि यह कहने का दुःसाहस कर सकेगा कि वह भावादि मूल मानव-तत्वों का तिरस्कार करके कविता कर सकता है।

समय के प्रभाव में केवल इतना होता है कि वे परिस्थियाँ बदल जाती हैं जिनके बीच भावादिक को अपनी क्रीड़ा करने का अवसर मिलता है। किसी पुराने ज़माने में जिसके प्रति क्रोध होता था, या जिस पर घृणा होती थी, उसके सामने हम

खुल्लमखुल्ला तलवार या लाठी लेकर आ जाते थे और जरा-सी ही देर में झटपट निबट लेते थे। परन्तु आजकल की परिस्थितयों में यह सब नहीं होने पाता। निबटना भी चाहें तो निबटते हुए झिझकते हैं, क्योंकि अपमान आदि का बदला लेने के लिये भी हम स्वतन्त्र नही हैं। ऐसा करना एक राजकीय जुर्म हो जाता है। बहादुरी आजकल अपराध है। अतएव क्रोध, प्रतिशोध आदि वृत्तियों को हम कायरतापूर्ण ढंग से चरितार्थ करते हैं। हम कूटनीतिज्ञता से, षड्यन्त्र से, काम लेते हैं- हम धोखा देते हैं। परन्तु इस प्रकार परिस्थितियों के बदल जाने पर भी क्रोधादिक मूल-भाव तो अपना काम करते ही हैं, कदाचित् उतनी ही तीव्रता के साथ जितनी तीव्रता के साथ वे पहले से करते आये हैं। इसी प्रकार क्या किसी ने प्रेम करना या हँसना छोड़ दिया है ? परिस्थियों के भेद से इन वृत्तियों के आचरण का रूप भले ही बदल गया हो।

कहने का तात्पर्य यह है कि कविता में समय का प्रभाव भी अवश्य दर्शनीय रहता है। कवि मूल तत्वों की भी अवहेलना नहीं कर सकता और अपने समय की भी नहीं। "साहित्य समाज का दर्पण होता है", "कवि अपने समय का प्रतिनिधि होता है", आदि तरह-तरह की साहित्यिक कहावतें हम सुना करते हैं। इन कहावतों का अभिप्राय यही है कि कवि मूल भावों की यथार्थता को उनकी अपने समय की व्यवहार-प्रणाली के साथ देखता है। जो कवि मूल भावों को नहीं समझता, या

फिर जो अपने समय के साथ उन भावों के सामंजस्य को देख सकने में असमर्थ है वह सत्कवि नहीं बल्कि कुकवि है। वैसे तो हम यहां तक कह सकते हैं कि कुकवि भी प्रायः अपने समय के प्रतिनिधि हो सकते हैं। क्योंकि यदि किसी समाज में एक हजार कवि हैं तो उनमें कुकवियों की संख्या एक-दो ही नहीं हो सकती-अकेला कुकवि इतने अधिक सुकवियों में अपनी कविता प्रकाशित कराने का साहस ही न कर सकेगा। एक हजार कवियों के समाज में कुकवियों की संख्या भी काफी ही होगी और वह इस बात को सूचना देगी कि अमुक समय में अमुक समाज के लोग अपनी मानव स्थिति के आधार-तत्वों तथा अपने समय की ओर से—जिन परिस्थितियों में वे आधार—तत्व अपनी जीवन—प्रतिष्ठा करते—कहाँ तक निस्पन्द, निर्जीव हो चुके थे। रीतिकाल का अधिकांश साहित्य इस प्रकार की सूचनाओं से ओत-प्रोत है। कविता के भीतर यह समय के प्रभाव का नकारात्मक या असत्तात्मक (negative) रूप है। परन्तु जिस समाज में और जिस समाज के कवियों में जीवन-स्त्रोत अवरुद्ध नहीं होता उस समाज की कविता में उसके युग का सत्तात्मक (positive) रूप ही विशेषतः विद्यमान रहता है भावों और वृत्तियों की सक्रिय प्रेरणा से यह रूप सत्तात्मक स्पन्दनयुक्त, बनता है। इसका उदाहरण वर्तमान समय और उसकी कविता में हमें मिलता है।

वर्तमान समय संघर्ष का समय है। आज हमारा जीवन

आध्यात्मिक, सामाजिक और राजनैतिक संघर्षों से भरा हुआ है। संघर्ष के समय में कोमल और उग्र, दोनों ही प्रकार की वृत्तियाँ अपनी विरूप अथवा प्रतिरूप परिस्थिति में अपने को चरितार्थ करने के लिए स्वयं संघर्ष करती हैं जिससे उनकी प्रगति तीव्रतर होती है। वृत्तियों के जीवन और उनकी चरितार्थता के लिए, जिसका अर्थ यह है कि मानव जीवन की स्थिति के लिए, संघर्ष का बहुत बड़ा मूल्य है। इसीलिए भारतीय शान्ति-युग के नाटकों में भी 'नियताप्ति' अवस्था का आयोजन है और संसार के समस्त कथा-साहित्य में संघर्ष-तत्व भरपूर दिखाई देता है। जिस प्रकार साहित्य में संघर्ष-तत्व के बिना पराकाष्ठा (climax) संभव नहीं उसी प्रकार जीवन में भी संघर्ष से ही जीवन की, चरितार्थता की पराकाष्ठा सम्पन्न होती है। कहने का अभिप्राय यह है कि वर्तमान समय संघर्ष का समय होता हुआ वृत्तियों के सक्रिय जीवन का भी समय है। आज के भारतीय समाज में कुछ इने-गिने अतिभाग्यशाली, या अत्यन्त दलित नौकरी-पेशा, लोगों तथा मध्यवर्गीय व्यापारियों [दूकानदारों] को छोड़कर हर कोई इस संघर्ष का अनुभव कर रहा है और उसके बीच में अपने को जीवित रखने के लिए आतुर है। और जबतक उसे कोई प्रशस्त मार्ग नहीं मिलता, उसकी यह आतुरता दिन-प्रति-दिन बढ़ती ही जाती है। ऐसी अवस्था में हमारे वर्तमान साहित्य और काव्य में मौलिक मानव वृत्तियों की सजगता का विशेषता के साथ दृष्टिगोचर होना स्वाभाविक है।

कौन ऐसा व्यक्ति होगा जो इस दशा की ओर एकदम आँखें मूँद सके ?

हमारे संघर्षों का मूल उत्तरदायित्व हमारी राजनैतिक दलितावस्था पर है। अतः संघर्षों में से सबसे विषम संघर्ष हमारा स्वतन्त्रता का संघर्ष है। देश-प्रेम-सम्बन्धी कविताएँ आजकल विशेष दिखाई देंगी, जिसमें प्रायः ओज और उत्साह का बड़ा उज्ज्वल विलास उछलता हुआ मिलेगा तथापि यह आवश्यक नहीं है कि देश-प्रेम की रचना में सर्वत्र ओज ही विद्यमान होना चाहिए। राष्ट्रीय संघर्ष देश को अतिप्रधान भाव-विक्रिया का रूप बनकर यदि स्थायी भाव की भाँति प्रतिष्ठित होता है तो इतर भाव उसके सहकारी सञ्चारियों के रूप में स्वाभाविक हो जाते हैं। संघर्ष में अपनी वस्तु के प्रति मोह बढ़ जाना सहज है जो रति का लक्षण है। हमारी वर्तमान कविता में हमें जहाँ कहीं अपनी मातृभूमि के सहज प्राकृतिक सौंदर्य और नाना गुणों का गान मिलता है, वहाँ हम संघर्ष—समस्या से उत्पन्न रतिभाव के सञ्चरण को टटोल लेते हैं। जहाँ हमें वर्तमान के साथ अतीत की तुलना का भाव अथवा अतीत के प्रति मोह का भाव दिखाई देता है वहाँ करुणा का अभिलक्ष्य कुछ न कुछ सिद्ध होता हुआ प्राप्त होगा। अतीत के गौरव-गान में वर्तमान का संकेत लक्षणा या व्यंजना द्वारा (अर्थात् परोक्ष भाव से) संघर्षोचित उत्साह का प्रतीक बन जाता है। वर्तमान समय के काव्य में इस प्रकार की वस्तु—निबन्धना, देश की

व्यापक भाव-परम्परा का प्रतिनिधित्व करती हैं। परन्तु जहां व्यक्तिगत भावनाओं का ही दृश्य सामने आता है वहाँ भी समय के अभाव में किसी न किसी अंश तक सामुहिकता का उत्तरदायित्व देखा जा सकता है। प्रधान राजनैतिक संघर्ष से ही सम्बन्ध रखने वाले, या किसी रूप में उससे ही पैदा हुए सामाजिक और आध्यात्मिक संघर्षों की क्रीड़ा व्यक्तियों में भी कभी नये ढँग के प्रेमोपचार में अथवा विरहोपचार में अथवा फिर किसी अव्यक्त ईश्वरोपचार में झलक जाती है। वह व्यक्ति की ही मानसिक अशांति के एक सघन देशव्याप्त वातावरण का प्रतिफलन है।

इस नये समय की नये ढंग की अशान्ति मे हमारे कहने—कहलाने का ढंग भी कुछ बदला हुआ-सा होना ही चाहिए। मन जब घोर रूप से आन्दोलित होता है, वृत्तियाँ जब अति उत्ताल होती हैं, तो इन्द्रियों के लौकिक परम्पराबद्ध आचरण पर काबू कम रह जाता है। क्रोध में या उत्साह में हम परम्परानुकूल व्यवहार की नपी-तुली वाणी कहाँ बोल पाते हैं? जो व्यक्ति के हाथ बात है वही समूह के साथ भी है। फलतः वर्तमान कविता में नई-नई प्रणालियाँ नया-नया वाणी-विन्यास नये-नये छन्द-बन्ध, नई-नई भाव-भंगिमाएँ देखने की बातें हैं। पौर्वापर्य की दृष्टि से भिन्न-भिन्न कवियों में भिन्न-भिन्न बातें भिन्न-भिन्न परिमाण में मिलेंगी। उससे हमें उन कवियों के समयों की प्रगति की सूचना मिलेगी। उस प्रगति के प्रभाव

से अमुक कवि की कविता के अनुरंजित होने में हम अमुक कवि के व्यक्तित्व की सजीवता और उसकी सामंजस्य—पटुता का अनुमान भली भाँति कर सकते हैं। हृदय-वृत्ति के सामंजस्य-की परख द्वारा किसी कवि के उत्कर्षापकर्ष का निर्णय किया जा सकता है। उसके बाद फिर यह देखा जा सकता है कि शास्त्र के युग-समीचीन रूप ने बदलते हुए समय की भिन्न—भिन्न परिस्थितियों में गुजर कर काव्य की मूलात्मा को नये-नये संस्कारों से प्रभावित होने वाली काव्य-रचनाओं में कहाँ तक सुरक्षित रक्खा है—कहाँ तक काव्य-मर्यादा को समुन्नत करने में शास्त्र सहायक या असहायक हुआ है। और इतने सब के द्वारा हमें हिन्दी कविता के भविष्य का भी कुछ-कुछ आभास मिल सकता है।

वर्तमान युग की कविताओं में वर्तमान परिस्थितियों के परिणामस्वरूप हमें बुद्धिवाद का भी संयोग उत्तरोत्तर बढ़ते हुए रूप में मिलता जाना स्वाभाविक है। संघर्ष की परिस्थितियों में समस्या रहती हैं जिनको सुलझाने के लिए बुद्धि को सचेष्ट होना पड़ता है। बुद्धि का सम्बन्ध विचार से है। भाव और विचार दो भिन्न श्रेणियों के तत्व होते हुए भी किसी स्थल पर समान मानसिक क्रिया का रूप कहाँ तक बन सकते हैं—इसकी परख का अवसर वर्तमान कविता हमको देती है। जीवन—स्वभाव को देखते हुए तो यह असंभव नहीं मालूम होता कि किसी संघर्ष में पड़ कर जहाँ एक ओर हमारी हृदय—वृत्तियां

जागरूक हों वहीं हमारी बुद्धि भी उस संघर्ष को सुलझाने के लिए आन्दोलित हो तथा भाव और विचार दोनों एक—दूसरे के सहयोगी बन जायँ। तथापि यह अवश्य ध्यान में रखने की बात है कि संघर्ष में पहले भाव ही का उद्दीपन होगा, फिर उस भाव से ही विचार को प्रेरणा मिलेगी और बाद में भी वह भाव ही यथाशक्ति हमारी विचारधारा व तदनुरूप कार्यावली को नियमित करता रहेगा। कविता में तो कम—से—कम इस तथ्य की अवहेलना हम नहीं कर सकते। किसी कविता में यदि विचारतत्व भावतत्व को दबा देता है तो वह कविता 'कविता' कहलाने की अधिकारिणी नहीं रहती।

प्रस्तुत संग्रह में स्व० श्रीयुत पं० श्रीधर पाठक से लेकर श्रीयुत बच्चन तक की कविताएँ सङ्कलित हैं। पाठक जी खड़ी—बोली कविता के प्रारम्भिक युग के महानुभावों में से हैं और श्रीयुत बच्चन उसके नवीनतम युग के हैं। दोनों के बीच की जो अवधि है उसमें हिन्दी साहित्य और हिन्दी कविता को अनेक स्थायी और अस्थायी धाराओं में होकर प्रवाहित होना पड़ा है। प्रारम्भिक युग में उससे पहले के युग के कुछ अवशिष्ट चिन्हों की झलक का भी कहीं कहीं मिल जाना असंभव और अस्वा—भाविक नहीं है। नवीनतम युग में आगे चलने वाली किसी अस्पष्ट शृंखला का आभास कदाचित् दिखाई दे सके। प्रारंभिक तथा नवीनतम युगों के बीच में जो समय गुजरा है उसमें हिन्दी काव्य में उठने वाली अनेक नई—नई धाराओं के

दर्शन हुए हैं जिनमें से कतिपय धाराओं ने वादों का रूप भी ग्रहण किया। इनमें स कोई वाद अधिक स्थायी हुए कोई कम। धाराओं की यह परिवर्तनशीलता भी युग—परिस्थितियों की प्रतीक है। प्रस्तुत संग्रह में वर्तमान समय के अधिकांश प्रमुख कवि आ गये हैं। इस संग्रह में संकलित कविताओं के अध्ययन और विवेचन से आधुनिक युग और आधुनिक काव्य का रूप बहुत कुछ देखा—समझा जा सकता है तथा उसमें व्यक्तिगत कवियों द्वारा आचरित युग—धर्म तथा काव्यात्मा के योगा—योग का निर्णय किया जा सकता है।

कृपाशंकर त्रिपाठी।

श्रीधर पाठक

भारत-गीत

१

जय जय प्यारा, जग से न्यारा
शोभित सारा; देश हमारा,
जगत-मुकुट, जगदीश-दुलारा,
जग - सौभाग्य सुदेश ।
जय जय प्यारा भारत-देश ।

२

प्यारा देश, जय देशेश,
जय अशेष, सदय विशेष
जहाँ न सम्भव अघ का लेश,
सम्भव केवल पुण्य-प्रवेश ।
जय जय प्यारा भारत - देश

३

स्वर्गिक शीश-फूल पृथिवी का,
प्रेम-मूल, प्रिय लोकत्रयी का,
सुललित प्रकृति-नटीका-टीका,
ज्यों निशि का राकेश ।
जय जय प्यारा भारत - देश ।

४

जय जय शुभ्र हिमाचल शृङ्गा,
कल-रव-निरत कलोलिनि गङ्गा,
भानु-प्रताप - चमत्कृत अङ्गा,
तेज - पुञ्ज तप - वेश ।
जय जय प्यारा भारत - देश ।

५

जग में कोटि-कोटि जुग जीवे,
जीवन सुलभ अमी-रस पीवे,
सुखद वितान सुकृत का सीवे,
रहे स्वतन्त्र हमेश
जय जय प्यारा भारत - देश ।

छात्र-प्रबोध

अहो छात्र-वर वृन्द, नव्य - भारत सुत, प्यारे ।
मातृ-गर्व-सर्वस्व, मोद - प्रद, गोद - दुलारे ।
अहो भव्य भारत भविष्य निशि के उजियारे ।
शुभ आशा विश्वास व्योम के रवि, विधु, तारे ।

गृह जीवन-नव ज्योति, प्रेम के प्रकृत स्रोत तुम।
विनय-शील-उद्योत, जगत के सुकृत स्रोत तुम।
मातृभूमि के प्राण, मातृ - सुख - सम्प्रदान तुम।
मातृ सत्व सन्त्राण कुशल, भुज-बल निधान तुम।
आर्य वंश अक्षय वट के अभिनव प्रवाल तुम।
आर्य सन्त जीवन पट के सुठि तन्तु जाल तुम।
आर्य वर्ण आश्रम उपवन के फल रसाल तुम।
आर्य-कीर्ति-तन्त्री-गुण के स्वर, शब्द ताल तुम।
निज सुजन्म सन्तति सरोज-वन के मृणाल तुम।
मानव-कुल-मानस हृद के मंजुल मराल तुम।
जग सुकृत्य रत भारत के सौभाग्य भाल तुम।
प्रिय स्वदेश अन्तर-आत्मा के अन्तराल तुम।
सुरुचि, सुवृत्ति, सुतेज, सुप्रेरित - मति - विशाल तुम।
सुघर, सुपूत, सुमाता के लाड़ले लाल तुम।
भारत-लाज-जहाज-सुदृढ-सुठि कर्णधार तुम।
भारति कंठ विहार विशद - मंदार - हार तुम।
निज अभिरुचि, निज भाषा-भूषा-भेष-विधाता।
निज सत्ता, निज पौरुष निज स्वत्वों के त्राता।
निजपरता-भ्रम-रहित करौ निज हित-विचार तुम।
हित-परता-क्रम-सहित करौ निज हित-प्रचार तुम।
सत-सेवा व्रत धार जगत के हरौ क्लेश तुम।
देश-देश में करौ प्रेम का अभिनिवेश तुम।

इस विधि से निस्संग करौ सेवा प्रसङ्ग तुम।
फिर फिर पर-हित-हेतु भरौ उर में उमंग तुम!
सब विधियों युव-वृन्द, बनौ नर प्रवर बंद्य तुम।
त्यों हरि-पद-अरविंद-भ्रमर, भुवि सर्माभनंद्य तुम।

जगत-सचाई

कहो न प्यारे मुझ से ऐसा–'झूठा है यह सब संसार।
थोथा झगड़ा, जी का रगड़ा केवल दुःख का हेतु अपार॥
माना हमने वस्तु जगत की नाशवान है निस्संदेह।
फिर भी तो छोड़ा नहिं जाता, पल भर को भी उससे नेह॥
लगा हुआ है वस्तु मात्र का एक दूसरे से संबंध।
दूषित क्यों कर हो सकता है उस कर्ता का अटल प्रबन्ध॥
"मिट्टी चढौना, मिट्टी बिछौना, मिट्टी दाना पानी है।
मिट्टी ही तन बदन हमारा" सो सब ठीक कहानी है॥
पर जो उलटा समझ के इसको, बने आप ही ज्ञानी है।
मिट्टी करता है जीवन को, और बड़ा अज्ञानी है॥
परम पवित्र पावनी पृथ्वी, भरी सकल सुघराई से।
पद-पद पर शोभा से छाई, ईश्वर की चतुराई से॥
अति अमोल रत्नों की जननी सब द्रव्यों की माता है।
सदा सुधारस भरी, खरी, यह सब प्रकार सुख दाता है

सब जीवों की भौतिक काया, इससे पोषण पाती है।
जीव से नाता छूट जाने पर इसीमें वह मिल जाती है॥
तुम से, पृथ्वी से, मिट्टी से है बस इतना ही सम्बन्ध।
काम तुम्हारे आती है वह, सुन्दर यह प्राकृतिक निबंध॥
इस शरीर से जो मनुष्य नहिं कुछ भी लाभ उठाता है।
उससे तो वह पशु भला जो काम सैंकड़ों आता है॥
उसका जन्म व्यर्थ है जो नर पौरुष कुछ न दिखाता है।
न इस लोक, ना उमी लोक में,हाथ उसे कुछ आता है॥
ऐसा कायर तो पृथ्वी को वृथा भार पहुँचाता है।
अपना जीना ही जिसको एक बड़ा बोझ हो जाता है॥
जो तन मन से करता है श्रम उचित, रीति से चलता है।
सारी वसुधा का क्रम २ से, सर्वस उसी को मिलता है॥
पुत्र, कलत्र, मित्र, बान्धव में फैलाकर सच्चा आनन्द।
काम जगत का करता है वह, रहता है सुखसे स्वच्छन्द॥
दुख कब ऐसे पुरुष सिंह के पास फटकने पाता है।
वह तो आलस का साथी है, आलसियों पर जाता है॥
जगत को झूठा-झूठा कहके करो नहीं उसका अपमान।
बुद्धि को अपने काम में लाओ, हे मनुष्य, हे बुद्धिनिधान॥
जैसा यह जग बना हुआ है वैसा उसको पहचानो।
ईश्वर की व्यापकता इसमें सभी ठौर, प्यारे जानो॥

संदेश

कहीं पे स्वर्गीय कोई बाला सुमंजु वीणा बजा रही है।
सुरों के संगीत की सी कैसी सुरीली गुञ्जार आ रही है॥
हरेक स्वर में नवीनता है, हरेक पद में प्रवीनता है।
निराली लय है औ लीनता है, अलाप अद्भुत मिला रही है॥
अलक्ष्य पदों से गत सुनाती तरल तरानों से मन लुभाती।
अनूठे अटपट स्वरों में स्वर्गिक सुधा की धारा बहा रही है॥
कोई पुरन्दर की किंकरी है कि या किसी सुर की सुन्दरी है।
वियोग-तप्ता सी भोग-मुक्ता, हृदय के उद्गार गा रही है॥
कभी नई तान प्रेममय है, कभी प्रकोपन, कभी विनय है।
दया है दाक्षिण्य का उदय है अनेकों बानक बना रही है॥
भरे गगन में है जितने तारे हुए हैं मदमस्त गत पे सारे।
समस्त ब्रह्मांड भर को मानो दो उँगलियों पर नचा रही है।
सुनो तो सुनने की शक्ति वालो, सको तो जाकर के कुछ पता लो।
है कौन जोगन ये जो गगन में कि इतनी चुलबुल मचा रही है॥

"हरिऔध"

भारत के नवयुवक

जाति-धन, प्रिय नवयुवक-समूह,
विमल मानस के मंजु मराल,
देश के परम मनोरम रत्न,
ललित भारत-ललना के लाल।

लोक की लाखों आँखें आज;
लगी हैं तुम लोगों की ओर,
भरी उन में है करुणा भूरि,
लालसामय है ललकित कोर।

उठो, लो आँखें अपनी खोल,
विलोको अवनी-तल का हाल,
अनालोकित में भर आलोक,
करो कमनीय कलङ्कित भाल।

भरे उर में जो अभिनव ओज,
सुना दो वह सुन्दर झनकार,
ध्वनित हो जिससे मानस-यंत्र,
छोड़ दो उस तन्त्री के तार।

रगों में बिजली जावे दौड़,
जगे भारत-भूतल का भाग,

प्रभावित धुन से हो भरपूर,
उमग गाओ वह रोचक राग।

हो सके जिससे सुगठित जाति,
सुकण्ठों में गूँजे वह तान,

भाव जिसमें हों भरे सजीव,
करो ऐसे गीतों का गान।

कर विपुल-साहस वज्र प्रहार—
विफलता-गिरि को कर दो चूर,

जगा दो सफल साधना-ज्योति,
विविध बाधा-तम कर दो दूर।

गगन में जग, भूतल में घूम,
निकालो कार्य-सिद्धि की राह,

अचल को विचलित कर दो भूरि,
रोक दो वारिधि-वारि-प्रवाह।

धूल में क्यों मिलती है धाक,
बचा लो बची—बचाई आन,

मचा दो दोष—दलन की धूम,
मसल दो दुख को मशक समान।

———

कोयल

कूक करके निज रसीले कंठ से।
हैं निराला रस रगों में भर रही॥
कोयले से रंग में रङ्गत दिखा।
हैं दिलों में कोयलें घर कर रही॥१॥

रंग-बिरंगे फूल हैं फूले हुए।
हैं दिसायें रँग-बिरंगी गूँजती॥
चह चहा चिडियाँ रही चाव से।
भौंर गूँजे, कोयलें हैं कूकती॥२॥

मन मरा दिल हुआ कुछ और ही।
कोंपलों में है छटा वैसी कहाँ॥
सुन जिसे जी की कली खिलती रही।
कोयलों में कूक है ऐसी कहां॥३॥

देख करके दुखी जनों का दुःख।
दुन्द हैं वह मचा रही पल-पल॥
या किसी का कराहना सुन कर।
वेतरह है कराहती कोयल॥४॥

जो हुआ है लालसाओं का लहू।
लाल फल दल हैं उसी में ही रङ्गा॥
है उसी का दर्द कोयल-कूक में।
... ... लोह लगा॥५॥

आंसू

तुम पड़ो टूट टूट – लबों पर।
क्यों सगों पर निढाल होते हो॥
दो गला आग के बबूलों को।
आँसुओं, गाल क्यों भिगोते हो॥
आँसुओं और को दिखा नीचा।
लोग पूजे कभी न जाते थे॥
क्यों गँवाते न तुम भरम उनका।
जो तुम्हें आँख से गिराते थे॥
हो बहुत सुथरे विमल जल बूँद से।
मत बदल कर रङ्ग काजल में सनो॥
पा निराले मोतियों की छबि दमक।
आँसुओं काले-कलूटे मत बनो॥
था भला आँसुओं वहीं बहते।
जो भली राह में पड़े सहना॥
चाहिये था कि आँख से बहते।
है बुरी बात नाक से बहना॥

पवन दूती

नाना-चिन्ता सहित दिन को राधिका थीं बिताती
आँखों को थीं सजल रखती उन्मना थीं दिखाती।
शोभा वाले जलद-वपु की हो रही चातकी थीं।
उत्कण्ठा थीं परम प्रबला वेदना वर्द्धिता थीं ॥ १ ॥

बैठी खिन्ना यक दिवस वे गेह में थीं अकेली।
आके आँसू—युगल दृग में थे धरा को भिगोते।
आई धीरे सदन में इस पुष्प-सद्गंध को ले।
प्रातः वाली सुपवन इसी काल वातायनों से ॥ २ ॥

आके पूरा सदन उसने सौरभीला बनाया।
चाहा सारा-कलुष तन का राधिका के मिटाना।
जो बूँदें थीं सजल दृग के पक्ष्म में विद्यमाना
धीरे धीरे क्षिति पर उन्हें सौम्यता से गिराया ॥ ३ ॥

श्री राधा को यह पवन की प्यार वाली क्रियायें।
थोड़ी सी भी न सुखद हुईं हो गईं वैरिणी सी।
भीनी-भीनी महक मन की शान्ति को खो रहीं थी।
पीड़ा देती परम चित्त को वायु की स्निग्धता थी ॥४॥

संतापों को विपुल बढ़ता देख के दुःखिता हो।
धीरे बोली सदुख उससे श्री मती राधिका यों।
प्यारी प्रातः पवन इतना क्यों मुझे है सताती।
क्या तू भी है कलुषित हुई काल की क्रूरता से ॥ ५ ॥

क्यों होती है निठुर इतना क्यों बढ़ाती व्यथा है।
तू है मेरी चिर परिचिता तू हमारी प्रिया है।

मेरी बातें सुन मत सता छोड़ दे वामता को ।
पीड़ा खो के प्रणतजन की पुण्य होता बड़ा है ॥ ६ ॥

मेरे प्यारे नव जलद से कंज से नेत्र वाले !
जाके आये न मधुवन से औ न भेजा सँदेसा ।
मैं रो-रो के प्रिय विरह से बावली हो रही हूँ ।
जाके मेरी सब दुःख कथा श्याम को सुना दे ॥ ७ ॥

कालिन्दी के तट पर घने रम्य उद्यान वाला !
ऊँचे-ऊँचे धवल-गृह की पंक्तियों से प्रशोभी ।
जो है न्यारा नगर मथुरा प्राण-प्यारा वहीं है ।
मेरा सूना सदन तज के तू वहां शीघ्र ही जा ॥ ८ ॥

ज्योंही मेरा भवन तज तू अल्प आगे बढ़ेगी ।
शोभावाली सुखद कितनी मंजु कुंजें मिलेंगी ।
प्यारी छाया मृदुल स्वर से मोह लेंगी तुझे वे ।
तो भी मेरा दुख लख वहाँ जान विश्राम लेना ॥ ९ ॥

थोड़ा आगे सरस रव का धाम सत्पुष्पवाला ।
अच्छे अच्छे बहु द्रुम लतावान सौन्दर्यशाली ।
प्यारा वृन्दा विपिन मन को मुग्धकारी मिलेगा ।
आना इस विपिन से मुह्यमाना न होना ॥ १० ॥

जाते-जाते अगर पथ में क्लान्त कोई दिखावे ।
तो जाके सन्निकट उसकी क्लान्तियों को मिटाना ।
धीरे धीरे परस करके गात उत्ताप खोना ।
सद्गन्धों में श्रमित जन को हर्षितों से बनाना ॥ ११ ॥

जाते जाते पहुँच मथुरा - धाम में उत्सुका हो ।
न्यारी - शोभा वर नगर की देखना मुग्ध होना ।
तू होवेगी चकित लख के मेरु से मन्दिरों को ।
आभावाले कलश जिनके दूसरे अर्क से हैं ॥ १२ ॥
कुँजों बागों विपिन यमुना कूल या आलयों में ।
सद्गन्धों से भरित मुख की बास सम्बन्ध से आ ।
कोई भौंरा विकल करता हो किसी कामिनी को ।
तो सद्भावों सहित उसको ताड़ना दे भगाना ॥ १३ ॥
तू पावेगी कुसुम गहने कान्तता साथ पैन्हे ।
उद्यानों में वर नगर के सुन्दरी मालिनों को ।
वे कार्यों में स्वप्रियतम के तुल्य ही लग्न होंगी ।
जो श्रान्ता हों सरस गति से तो उन्हें मोह लेना ॥१४॥
जो इच्छा हो सुरभि-सुखदा ले नाना भूषणों से ।
आते जाते स-रुचि उनके प्रीतमों को रिझाना ।
ऐ मर्मज्ञे रहित उससे सर्वथा किन्तु होना ।
जैसे जाना निकट प्रिय के व्योम-चुम्बी गृहों के ॥१५॥
तू पावेगी वर नगर के एक भूखण्ड न्यारा ।
शोभा देते अमित जिसमें राज प्रासाद होंगे ।
उद्यानों में परम - सुषमा है जहाँ संचिता सी ।
छीन लेते सरवर जहाँ वज्र की स्वच्छता है ॥ १६ ॥
तू देखेगी जलद—तन को जा वहीं तद्गता हो ।
होंगे लोने नयन उनके ज्योति—उत्कीर्णकारी ।

मुद्रा होगी वर-वदन की मूर्ति सी सौम्यता की।
सीधे सीधे वचन उनके सिक्त पीयूष होंगे ॥१७॥
नीले कंजों सदृश उनके गात की श्यामता है।
पीला प्यारा वसन कटि में पैन्हते हैं फबीला।
छूटी काली अलक मुख की कांति को बढाती।
सद्वस्त्रों में नवल • तन की फूटती सी प्रभा है ॥१८॥
सीधे जाके प्रथम गृह के मंजु उद्यान में ही।
जो थोडी भी तन-तपन हो सिक्त हो के मिटाना।
निर्धूली हो सरस रज से पुष्प के लिप्त होना।
पीछे जाना प्रिय सदन में स्निग्धता से बड़ी ही ॥१९॥
जाते ही छू कमल दल में पांव को पूत होना।
काली काली कलित अलकें गण्ड शोभी हिलाना।
क्रीडायें भी ललित करना ले दुकूलादिकों को।
धीरे धीरे परस तन को प्यार की वेलि वोना ॥२०॥
तेरे में है न यह गुण जो तू व्यथायें सुनाये।
व्यापारों को प्रखर मति औ युक्तियों से चलाना।
बैठे जो हों निज सदन में मेघ सी कान्ति वाले।
तो चित्रों को इस भवन में ध्यान से देख जाना ॥२१॥
जो चित्रों में विरह-विधुरा का मिले चित्र कोई।
तो जा जाके निकट उसको भाव से यों हिलाना।
प्यारे होके चकित जिससे चित्र की ओर देखें।
आशा है यों सुरति उनको हो सकेगी हमारी ॥ २२ ॥

जो प्यारे मंजु—उपवन या वाटिका में खड़े हों।
छिद्रों में जा क्वणित करना वेणु लौं कीचकों को।
यों होवेगी सुरति उनको सर्व गोपाङ्गना की।
जो हैं वंशी श्रवण रुचि से दीर्घ उत्कण्ठ होती ॥ २३ ॥

लाके फूले कमल दल को श्याम के सामने ही।
थोड़ा थोड़ा विपुल जल में व्यग्र हो हो डुबाना।
यों देना ऐ भगिनि जतला एक अंभोज नेता।
आँखों को हो विरह विधुरा वारि में बोरती है ॥ २४ ॥

धीरे लाना वहन करके नीप का पुष्प कोई।
औ प्यारे के चपल दृग के सामने डाल देना।
ऐसे देना प्रकट दिखला नित्य आशंकिता हो।
कैसी होती विरह वश में नित्य रोमांचिता हूँ ॥ २५ ॥

बैठे नीचे जिस विटप के श्याम होवें उसी का।
कोई पत्ता निकट उनके नेत्र के ले हिलाना।
यों प्यारे को विदित करना चातुरी से दिखाना।
मेरे चिन्ता विजित चित्त का क्लान्त हो कांप जाना ॥२६॥

सूखी जाती मलिन लतिका जो धरा में पड़ी हो।
तो पाँवों के निकट उसको श्याम के ला गिराना।
यों सीधे से प्रकट करना प्रीति से वंचिता हो।
मेरा होना अति मलिन औ सूखते नित्य जाना ॥२७॥

कोई पत्ता नवल तरु का पीत जो हो रहा हो।
तो प्यारे के दृग युगल के सामने ला उसे तू।

धीरे धीरे सँभल रखना औ उन्हें यों बताना ।
पीला होना प्रबल दुःख से प्रोषिता सा हमारा ॥ २८ ॥
यों प्यारे को विदित करके सर्व मेरी व्यथायें।
धीरे धीरे वहन करके पाँव की धूलि लाना ।
थोड़ी सी भी चरण रज को ला न देगी हमें तू।
हा! कैसी तो व्यथित चित्त को बोध मैं दे सकूँगी ॥२९॥
जो ला देगी चरण-रज तो तू बड़ा पुण्य लेगी।
पुता दूंगी परम उस को अङ्ग में मैं लगा के ।
पोतूँगी जो हृदय तल में वेदना दूर होगी ।
डालूँगी मैं शिर पर उसे आँखन में ले मलूंगी ॥ ३० ॥
भीनी भीनी सुरभि सगरे पुष्प की पोषिका सी।
मूलीभूता अवनितल में कीर्ति कस्तुरिका की।
तू प्यारे के नवलतन की बास लादे निराली।
मेरे ऊबे व्यथित चित में शान्ती धारा बहादे ॥ ३१ ॥
होते होवें पतित कण जो अङ्ग रागादिकों के!
धीरे धीरे वहन करके तू उन्हीं को उड़ाला।
कोई माला कुसुम प्रिय के कंठ संलग्न जो हो।
तो यत्नों से विकच उसका पुष्प ही एक ला दे ॥३२॥
पूरी होवें न यदि तुझ से अन्य बातें हमारी।
तो तू मेरी विनय इतनी मानले औ चली जा।
छू के प्यारे कमल पग को प्यारे के साथ आ जा।
जी जाऊँगी हृदय तल में मैं तुझी को लगा के ॥३३॥

बार बार तू आया

बार बार तू आया
पर मैंने पहचान न पाया।
हिम-कम्पित कृश-पाणि पसारे,
पहुंच बुभुक्षित मेरे द्वारे,
तूने मेरा धक्का खाया,
बार बार तू आया।

दीन दृगों से निकल पड़ा तू,
बड़ा सरस था विकल पड़ा तू,
पर मैं कौतुक से मुसकाया,
बार बार तू आया!

गलिताङ्गों का गन्ध लगाए,
आया फिर तू अलख जगाए,
हट कर मैंने तुझे हटाया,
बार बार तू आया।

आर्त—गिरा कानों में आई,
वह थी तेरी आहट लाई,
पर मैं उस पर ध्यान न लाया,
बार बार तू आया।

पीडित के निःश्वास—अरे रे।
मैं क्या जानूं कर थे तेरे?

मुझ पर माया-मद था छाया,
बार बार तू आया।

अब जो मैं पहचानूँ तुझको,
तो तू भूल गया है मुझको,
मैं हूँ—जिसने तुझे भुलाया,
बार बार तू आया।
पर मैंने पहचान न पाया।

आगे बढ़, आगे

फिरें स्वयं भय भागे,
आगे बढ़, आगे बढ़, आगे!

बीत गया है वह अतीत तो,
किसके लिए रुका तू?
पीछे छूट गया जो, उसका
रस तो लूट चुका तू?
पाकर नई अतृप्ति निरंतर
नये पाठ पढ़ आगे
आगे बढ़, आगे बढ़, आगे!

आगे अन्धकार तो पीछे
अस्ताचल की लाली
क्रम क्रम से गिरती उस पर
अमिट यवनिका काली !
पर देखे हैं सभी दृश्य वे
आ, रहस्यमय आगे
आगे बढ़, आगे बढ़, आगे

गिर गिर कर ही तो सँभलेगा
अटकेगा——झटकेगा,
तभी लगेगा न तू ठिकाने,
जब भूले——भटकेगा।
उठ, तू उठता ही आवेगा
ऊँचे चढ़—चढ़ आगे
आगे बढ़, आगे बढ़, आगे !

अन्त नहीं यदि इस पद्धति का
तो अनन्त मति तेरी,
तर, तारक बन अरे अमर नर,
छाई रहे अँधेरी।
धर दृढ चरण, समृद्धि-वरण कर
किरण-तुल्य बढ आगे
आगे बढ, आगे बढ, आगे।

मेरा देश

बलिहारी तेरा वरवेश,
मेरे भारत ! मेरे देश !

बाहर मुकुट—विभूषित भाल,
भीतर जटाजूट का जाल,
ऊपर नभ नीचे पाताल,
और बीच में तू प्रणपाल ।
बंधन में भी मुक्तिनिवेश,
मेरे भारत ! मेरे देश !

कभी मुरज मद वीणा वाद,
कभी स्वरों से साम · निनाद ।
कभी गगनचुम्बी प्रासाद,
कभी कुटी में हो आह्लाद ।
नहीं कभी भी भय का लेश,
मेरे भारत ! मेरे देश !

है तेरी कृति में विश्राँति,
भरी प्रकृति में निश्चल शांति ।
फटक नहीं सकती है भ्रांति,
आँखों में है अक्षय कांति ।
आत्मा में है अज अखिलेश,
मेरे भारत ! मेरे देश !

सरस्वती का है तुझ में वास,
लक्ष्मी का भी विपुल विलास।
प्रिया प्रकृति का पूर्ण विकास,
फिर भी है तू आप उदास।
हे गिरीश ! हे अम्बर केश !
मेरे भारत ! मेरे देश !

मस्तक में रखता है ज्ञान,
भक्ति-पूर्ण मानस में ध्यान।
करके तू प्रभु-कर्म विधान,
है सत चित आनन्द निधान।
मेटे तूने तीनों क्लेश !
मेरे भारत ! मेरे देश !

इधर विविध लीला विस्तार,
उधर गुणों का भी परिहार।
जिधर देखिए पूर्णाकार,
किधर कहें हम तेरा द्वार।
हृदय कहीं से करें प्रवेश
मेरे भारत ! मेरे देश

तन से सब भोगों का भोग,
मन से महा अलौकिक योग।
पहले संग्रह का संयोग,
स्वयं त्याग का फिर उद्योग।

अद्भुत है तेरा उद्देश !
मेरे भारत ! मेरे देश !

बनकर तू चिर साधन धाम,
हुआ स्वयं ही आत्माराम।
किया नहीं तब तक विश्राम—
जब तक किया न पूरा काम।

दिये तुम्हीं ने सब उपदेश !
मेरे भारत ! मेरे देश !

यशोधरा—निर्वेद

अब कठोर हो वज्रादपि ओ कुसुमादपि सुकुमारी।
आर्यपुत्र दे चुके परीक्षा, अब है मेरी बारी॥

मेरे लिए पिता ने सब से धीर-वीर वर चाहा।
आर्यपुत्र को देख उन्होंने सभी प्रकार सराहा॥
फिर भी हट कर हाय! वृथा ही उन्हें उन्होंने थाहा।
किस योद्धा ने बढ़कर उनका शौर्य-सिन्धु अवगाहा?

क्यों कर सिद्ध करूँ अपने को मैं उन नर की नारी!
आर्यपुत्र दे चुके परीक्षा अब है मेरी बारी।

देख कराल काल-सा जिनको काँप उठे सब भय से,
गिरे प्रतिद्वन्द्वी नंदार्जुन, नागदत्त जिस हय से।

वह तुरंग पालित-कुरंग-सा नत हो गया विनय से,
क्यों न गूँजती रंगभूमि फिर उनके जय जय से।
निकला वहाँ कौन उन जैसा प्रबल पराक्रमकारी ?
आर्यपुत्र दे चुके परीक्षा, अब है मेरी वारी।

सभी सुन्दरी बालाओं में मुझे उन्होंने माना,
सब ने मेरा भाग्य सराहा, सब ने रूप बखाना,
खेद, किसी ने उन्हें न फिर भी ठीक ठीक पहचाना,
भेद चुने जाने का अपने मैंने भी अब जाना।
इस दिन के उपयुक्त पात्र की उन्हें खोज थी सारी ?
आर्यपुत्र दे चुके परीक्षा, अब है मेरी वारी।

मेरे रूप-रंग यदि तुझको अपना गर्व रहा है,
तो उसके झूठे गौरव का तूने भार सहा है,
तू परिवर्तनशील, उन्होंने कितनी वार कहा है,
'फूला दिन किस अंधकार में डूबा और बहा है ?'
किन्तु अंतरात्मा भी मेरा था क्या विकृत-विकारी ?
आर्यपुत्र दे चुके परीक्षा, अब है मेरी वारी।

मैं अबला पर वे तो विश्रुत वीर-बली थे मेरे,
मैं इन्द्रियासक्ति ! पर वे कब थे विषयों के चेरे ?
अयि मेरे अर्द्धांगि-भाव, क्या विषय मात्र थे तेरे ?
हा ! अपने अंचल में किसने ये अंगार बिखेरे ?
हैं नारीत्व मुक्ति में भी तो अहो विरक्ति-विहारी ?
आर्यपुत्र दे चुके परीक्षा, अब है मेरी वारी।

सिद्धि-मार्ग की बांधा नारी फिर उसकी क्या गति है?
पर उनसे पूछूँ क्या, जिनको मुझ से आज विरति है!
अर्द्ध विश्व में व्याप्त शुभाशुभ मेरी भी कुछ मति है!
मैं भी नहीं अनाथ जगत में मेरा भी प्रभु पति है?
यदि मैं पतिव्रता तो मुझ को कौन भार-भय भारी!
आर्यपुत्र दे चुके परीक्षा, अब है मेरी वारी।

उर्मिला-लक्ष्मण संवाद

सौधसिंह द्वार पर अब भी वही,
बांसुरी इस-रागिनी में बज रही।
अनुकरण करता उसी का कीर है,
पंजर स्थित जो सुरम्य शरीर है।
उर्मिला ने कीर सम्मुख दृष्टि की,
या वहाँ दो खजनों की सृष्टि की।
मौन होकर कीर तब विस्मित हुआ,
रह गया वह देखता-सा स्थित हुआ।
प्रेम से उस प्रेयसी ने तब कहा—
"रे सुभाषी, बोल, चुप क्यों हो रहा'।
पार्श्व से सौमित्रि आ पहुँचे तभी,
और बोले-लो बता दूँ मैं अभी!
नाक का मोती अधर की कान्ति से,
देख कर सहसा हुआ शुक मौन है।

अन्य शुक यह कौन है,
सोचता है सहास्य विनोद से।
यों वचन कह कर मन के मोद से,
मुग्ध हो सौमित्रि मत्त मराल से।
पक्षिनी के पास स्थिर चाल से।
हो गये आकर खड़े भी वे बड़ी,
चारु चित्रित भित्तियां मानो खड़ी।
देखती ही रह गई मानो आ मिला,
प्रीति से आवेग आँखों में खिला।
और हार्दिक सा

मुस्करा कर अमृत बरसाती हुई,
रसिकता में सुरस सरसाती हुई।
उर्मिला बोली "अजी, तुम जग गये?
स्वप्न-निधि से नयन कब से लग गये?"
"मोहिनी ने मन्त्र पढ़ जब से हुआ,
जागरण रुचिकर तुम्हें जब से हुआ।"
गत्त हुई संलाप में बहुरात थी,
प्रथम उठने की परस्पर बात थी।
"जागरण है स्वप्न से अच्छा कहीं",
"प्रेम में कुछ भी बुरा होता नहीं।"
प्रेम की यह रुचि विचित्र सराहिए,
योग्यता क्या कुछ न होनी चाहिए?
धन्य है प्यारी, तुम्हारी योग्यता,

मोहिनी-सी मूर्ति, मंजु-मनोज्ञता ।
धन्य जो इस योग्यता के पास हूँ,
किंतु मैं भी तो तुम्हारा दास हूँ ।
दास बनने का बहाना किस लिए,
देव होकर तुम सदा मेरे रहो ।
और देवी ही मुझे रक्खो अहो,
उर्मिला यह कह तनिक चुप हो रही ।
तब कहा सौमित्रि ने कि "यही सही ।
तुम रहो मेरी हृदय-देवी सदा,
मैं तुम्हारा हूँ प्रणय-सेवी सदा ।"
फिर कहा—"वरदान भी होगी मुझे,
मानिनी, कुछ मान भी दोगी मुझे ।
उर्मिला बोली कि "यह क्या धर्म है,
कामना को छोड़ कर ही काम है ।"
"किन्तु मेरी कामना छोटी-बड़ी,
है तुम्हारे पाद पद्मों में पड़ी ।
त्याग या स्वीकार कुछ भी हो भले,
वह तुम्हारी वस्तु आश्रित—वत्सले ॥
"शस्त्रधारी हो न तुम, विष के बुझे,
क्यों न काँटों में घसीटोगे मुझे ।
अधरा अबल हूँ न मैं, कुछ भी करो,
किन्तु पर नहीं, शिरोरुह तब धरो ।"

साँप पकड़ाओ न मुझ को निर्दये,
देख कर ही विष चढ़े जिनका अये।
अमृत भी पल्लव-पुटों में है भरा,
विरस मन को भी बना दे जो हरा।
अवश-अबला तुम शकल बल-विरता,
विश्व की गम्भीरता, ध्रुव धीरता।
बली तुम्हारी एक बाँकी दृष्टि पर,
मर रही है, जी रही है सृष्टि भर।
भूमि के कोटर, गुहा गिरि गर्त भी,
शून्यता नभ की, सलिल-आवर्त भी।
प्रेयसी, किसके सहज-संसर्ग से,
दीखते हैं प्राणियों को स्वर्ग-से।
जन्म-भूमि - ममत्व कृपया छोड़ कर,
चारु-चिन्ता मणि - कला से होड़ कर।
कल्प वल्ली - सी तुम्हीं चलती हुई,
बाटती हो दिव्य-फल फलती हुई॥

बीती विभावरी

बीती विभावरी जाग री।
अंबर पनघट में डुबो रही—
तारा - घट ऊषा नागरी!

खग-कुल कुल-कुल सा बोल रहा,
किसलय का अंचल डोल रहा!
लो यह लतिका भी भर लाई—
मधु-मुकुल नवल रस गागरी।
अधरों में राग अमंद पिये
अलकों में मलयज बंद किये—
तू अब तक सोई है आली!
आँखों में भरे विहाग री।

कैसे छिप आओगे

निज अलकों के अन्धकार में तुम कैसे छिप आओगे?
इतना सजग कुतूहल! ठहरो, यह न कभी बन पाओगे।
आह, चूँम लूँ जिन चरणों को चाँप चाँप कर उन्हें नहीं—
दुख दो इतना, अरे अरुणिमा ऊषा सी वह उधर बही।
वसुधा चरण-चिन्ह सी बन कर यहीं पड़ी रह जावेगी।
प्राची रज कुंकुम ले चाहे अपना भाल सजावेगी।
देख न लूँ, इतनी ही तो है इच्छा? लो सिर झुका हुआ।
कोमल किरन उँगलियों से ढक दोगे यह दृग खुला हुआ।
फिर कह दोगे, पहचानो, तो मैं हूँ कौन बताओ तो।
किन्तु उन्हीं अधरों से पहिले उनकी हँसी दबाओ तो।
सिहर भरे निज शिथिल मृदुल अंचल को अधरों से पकड़ो।
वेला बीत चली है चंचल बाहु-लता से आ जकड़ो।

ले चल

ले चल वहाँ भुलावा देकर,
मेरे नाविक ! धीरे-धीरे।
जिस निर्जन में सागर लहरी,
अंबर के कानों में गहरी—
निश्छल प्रेम कथा कहती हो,
तज कोलाहल की अवनी रे।

जहाँ साँझ-सी जीवन छाया,
ढीले अपनी कोमल काया,
नील नयन से ढुलकाती हो,
ताराओं की पाँति घनी रे।

जिस गंभीर मधुर छाया में—
विश्व चित्रपट चल माया में—
विभुता विभु-सी पड़े दिखाई,
दुख-सुख वाली सत्य बनी रे।

श्रम-विश्राम क्षितिज-वेला से—
जहाँ सृजन करते मेला से—
अमर जागरण उषा नयनसे—
बिखराती हो ज्योति घनी रे।

झरना

मधुर है स्रोत मधुर है लहरी।
न है उत्पात, छटा है छहरी॥
मनोहर झरना,
कठिन गिरि कहाँ विदारित करना,
बात कुछ छिपी हुई है गहरी।
मधुर है स्रोत मधुर है लहरी॥

कल्पनातीत काल की घटना।
हृदय को लगी अचानक रटना॥
देखकर झरना,
प्रथम वर्षा से इसका भरना।
स्मरण होरहा शैल का कटना॥
कल्पनातीत काल की घटना॥

२

कर गई प्लावित तन मन सारा।
एक दिन तव अपाङ्ग की धारा॥
हृदय से झरना,
बह चला, जैसे दृगजल ढरना।
प्रणय वन्या ने किया पसारा।
कर गई प्लावित तन मन सारा॥
प्रेम की पवित्र परछाँई में।
लालसा हरित विटप झाँई में।

वह चला झरना,
तापमय जीवन शीतल करना।
सत्य यह तेरी सुघराई में।
प्रेम की पवित्र परछाँई में॥

संघर्ष

श्रद्धा का था स्वप्न किन्तु वह सत्य बना था।
इडा संकुचित उधर प्रजा में क्षोभ घना था।
भौतिक विप्लव देख विकल वे थे घबराये,
राज शरण में त्राण प्राप्त करने को आये।
किन्तु मिला अपमान और व्यवहार बुरा था,
मनस्ताप से सबके भीतर रोष भरा था।
मनु चिंतित से पड़े शयन पर सोच रहे थे,
क्रोध और शंका के श्वापद नोच रहे थे।
जो मेरी है सृष्टि उसी से भीत रहूँ मैं,
क्या अधिकार नहीं कि कभी अविनीत रहूँ मैं।
इड़ा नियम परतंत्र चाहती मुझे बनाना,
निर्बाधित अधिकार उसी ने एक न माना।
मैं चिर बंधन हीन मृत्यु सीमा उल्लंघन,
करता सतत चलूँगा यह मेरा है दृढ़ प्रण।
प्रगतिशील मन झुका एक क्षण करवट लेकर,
देखा अविचल इड़ा खड़ी फिर सब कुछ देकर।

और कह रही "किन्तु नियामक नियम न माने",
तो फिर सब कुछ नष्ट हुआ सा निश्चय जाने।
कह प्रजापति यह न हुआ है कभी न होगा,
निर्वाधित अधिकार आज तक किसने भोगा।
आह प्रजापति होने का अधिकार यही क्या ?
अभिलाषा मेरी अपूर्ण ही सदा रहे क्या ?
तुमने भी प्रतिदान दिया कुछ कह सकती हो ?
मुझे ज्ञान देकर ही जीवित रह सकती हो।
"इड़े ! मुझे वह वस्तु चाहिये जो चाहूँ,
तुम पर हो अधिकार प्रजापति न तो वृथा हूँ।"
आह न समझोगे क्या मेरी अच्छी बातें ?
तुम उत्तेजित होकर अपना प्राप्य न पाते।
प्रजा क्षुब्ध हो शरण माँगती उधर खड़ी है,
प्रकृति सतत आतंक विकंपित घड़ी घड़ी है।
अभी समय है मुझ पर कुछ विश्वास करो तो,
बनती है सब बात तनिक तुम धैर्य धरो तो।
और एक क्षण वह, प्रमाद का फिर से आया,
इधर इड़ा ने द्वार ओर निज पैर बढ़ाया।
किन्तु रोक ली गयी भुजाओं से मनु की वह,
निस्सहाय हो दीन दृष्टि देखती रही वह।
मैं शासक, मैं चिर स्वतंत्र, तुम पर भी मेरा—
हो अधिकार असीम, सफल हो जीवन मेरा।

देख रहा हूँ वसुधा का अति भय से कंपन,
और सुन रहा हूँ नभ का यह निर्मम क्रन्दन।
किंतु आज तुम वंदी हो मेरी बाहों में,
मेरी छाती में, फिर सब डूबा आहों में!
सिंह द्वार अरराया जनता भीतर आयी,
"मेरी रानी" उसने जो चीत्कार मचाया।
सजग हुए मनु बज्र खचित ले राजदंड तब,
और पुकारा तो सुनलो जो कहता हूँ अब—
तुम्हें तृप्ति-कर सुख के साधन सकल बताया,
मैंने ही श्रम भाग किया फिर वर्ग बनाया।
अत्याचार प्रकृति कृत हम सब जो सहते हैं,
करते कुछ प्रतिकार न अब हम चुप रहते हैं।
आज न पशु हैं हम, या गूँगे कानन चारी,
यह उपकृति क्या भूल गये तुम आज हमारी।
वे बोले-सक्रोध मानसिक भीषण दुख से,
"देखो पाप पुकार उठा अपने ही मुख से"।
तुमने योग क्षेम से अधिक संचय वाला,
लोभ सिखा कर इस विचार संकट में डाला।
हम संवेदन शील हो चले यही मिला सुख,
कष्ट समझने लगे बनाकर निज कृत्रिम दुख।
प्रकृत शक्ति तुमने यंत्रों से सब की छीनी,
शोषण कर जीवनी बना दी जर्जर झीनी।

और इड़ा पर यह क्या अत्याचार किया है ?
इसीलिये तू हम सब के बल यहाँ जिया है ?
आज बंदिनी मेरी रानी इड़ा यहाँ है ?
ओ मायावर ? अब तेरा निस्तार कहाँ है ?

श्री सुर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'

वीणा वादिनी

तव भक्त भ्रमरों को हृदय में लिए वह शत दल विमल,
आनन्द-पुलकित लोटता नव चूम कोमल चरण तल।
बह रही है सरस तान-तरङ्गिनी,
बज रही है वीणा तुम्हारी सङ्गिनी,
अयि मधुर वादिनि, सदा तुम रागिनी – अनुरागिनी,
भर अमृत-धारा आज करदो प्रेम-विह्वल हृदय दल।
आनन्द–पुलकित हों सकल तव चूम कोमल चरण तल।
स्वर हिलोरे ले रहा आकाश में,
काँपति है वायु स्वर-उच्छ्वास में,
ताल-मात्राएँ दिखातो भङ्ग, नव गति-रङ्ग भी,
मूर्च्छित हुए से मूर्च्छना करती उठाकर प्रेम छल,
आनन्द- पुलकित हों सकल तव चूम कोमल चरण तल।

सञ्चिता

तुम और मैं

तुम तुंग हिमालय – शृंग,
और मैं चंचल-गति सुर-सरिता
तुम विमल हृदय–उच्छवास,
और मैं कान्त-कामिनी कविता

तुम प्रेम और मैं शांति,
तुम सुरापान घन-अंधकार,
मैं हूँ मत वाली भ्रांति

तुम दिनकर के खर किरण-जाल,
मैं सरसिज की मुसकान।
तुम वर्षों के बीते वियोग,
मैं हूँ पिछली पहचान ॥

तुम योग और मैं सिद्धि,
तुम हो रागानुग निश्छल तप,
मैं शुचिता सरल समृद्धि ।

तुम मृदु मानस के भाव,
और मैं मनोरंजनी भाषा।
तुम नंदन–वन–घन विटप,
और मैं सुख शीतल तल शाखा।

तुम प्राण और मैं काया,
तुम शुद्ध सच्चिदानंद ब्रह्म,
मैं मनोमोहिनी माया ।

तुम प्रेममयी के कंठहार,
मैं वेणी काल नागिनी ।
तुम कर पल्लव झंकृत सितार,
मैं व्याकुल विरह रागिनी ॥

तुम पथ हो, मैं हूँ रेणु,
तुम हो राधा के मन मोहन,
मैं इन अधरों की वेणु ।

तुम पथिक दूर के श्रांत,
और मैं बाट-जोहती आशा ।
तुम भवसागर दुस्तर,
पार जाने की मैं अभिलाषा ॥

तुम नभ हो मैं नीलिमा,
तुम शरत काल के बाल-इन्दु,
मैं हूँ निशीथ-मधुरिमा ।

तुम गंध कुसुम कोमल पराग,
मैं मृदु गति मलय समीर ।
तुम स्वेच्छाचारी मुक्त पुरुष,
मैं प्रकृति, प्रेम जंजीर ॥

तुम शिव हो, मैं हूँ शक्ति,
तुम रघुकुल गौरव रामचन्द्र,
मैं सीता अचला भक्ति ॥

तुम रण-तांडव-उन्माद नृत्य,
मैं मुखर मधुर नूपुर ध्वनि ।
तुम नाद-वेद ओंकार सार,
मैं कवि-शृंगार शिरोमणि ॥
तुम यश हो मैं हूँ प्राप्ति,
तुम कुंद इंदु अरविंद शुभ्र,
तो मैं हूँ निर्मल व्याप्ति ।

तोड़ती पत्थर

वह तोड़ती पत्थर,
देखा उसे मैंने इलाहाबाद के पथ पर-
वह तोड़ती पत्थर

कोई न छायादार,
पेड़ वह जिसके तले बैठी हुई स्वीकार :
श्याम तन, भर बंधा यौवन,
नत नयन, प्रिय-कर्म-रत मन,
गुरु हथौड़ा हाथ,
करती बार बार प्रहार-
सामने तरु मालिका अट्टालिका, प्राकार ।
चढ़ रही थी धूप,
गर्मियों के दिन।
दिवा का तमतमाता रूप

उठी झुलसाती हुई लू,
रूई ज्यों जल हुई भू,
गई चिनगीं छा गई,
प्रायः हुई दुपहर :—
वह तोड़ती पत्थर।
देखते देखा मुझे तो एक बार,
उस भवन की ओर देखा, छिन्नतार,
देख कर कोई नहीं,
देखा मुझे उस दृष्टि से
जो मार खा रोई नहीं,
सजा सहज सितार।
सुनी मैंने वह नहीं जो थी सुनी झंकार।
एक छन के बाद वह काँपी सुघर,
ढुलक माथे से गिरे सीकर
लीन होते कर्म में फिर ज्यों कहा—
'मैं तोड़ती पत्थर।'

जूही की कली

विजन-वन-वल्लरी पर
सोती थी सुहाग भरी-स्नेह-स्वप्न-मग्न—
कमल-कोमल-तनु तरुणी, जूही की कली,
दृग बन्द किए, शिथिल-पत्रांक में।

वासंती निशा थी,
विरह-मधुर प्रिया-सेघ छोड़
किसी दूर देश में था पवन
जिसे कहते हैं मलयानिल।
आई याद बिछुड़न से मिलन की वह मधुर बात,
आई याद कांता की कंपित कमनीय गात,
आई याद चाँदनी की धुली हुई आधी रात,
फिर क्या? पवन
उपवन—से—सरित—हन——गिरि कानन
कुंज———लता———पुंजों को पार कर
पहुँचा जहाँ उसने की केलि खिली-कली-साथ।
सोती थी, जाने कहो, कैसे प्रिये-आगमन वह?
नायक ने चूमे कपोल,
डोल उठी वल्लरी की लड़ी जैसे हिंडोल।
इस पर भी जागी नहीं, चूक क्षमा-मांगी नहीं,
निद्रा वस वे किये विशाल नेत्र मूंदे रही,
किंवा मतवाली थी यौवन की मदिरा पिए कौन कहे?
निर्दय उस नायक ने निपट निठुराई की
कि झोंको की झाड़ियों से सुन्दर सुकुमार
देह सारी झकझोर डाली,
मसल दिए गोरे कपोल गोल,

चौंक पड़ी युवती

चकित चितवन निज चारों ओर फेर,
हेर प्यारे को सेज पास,
नम्रमुखी, हंसी खिली,
खेल रंग, प्यारे-संग।

श्री सुमित्रा नंदन पंत

राष्ट्र-गान

जन भारत हे !
भारत हे।
स्वर्ग स्तंभवत्—गौरव मस्तक
उन्नत हिमवत् हे,
जन भारत हे,
जाग्रत भारत हे।
गगनचुम्बि विजयी तिरंगध्वज
इन्द्र-चापमत् हे,
कोटि कोटि हम श्रमजीवी-सुत
संभ्रम-युत नत हे,
सर्व एक मत, एक ध्येय रत,
सर्व-श्रेय व्रत हे,
जन भारत हे,
जाग्रत भारत हे!

समुच्चरित शत शत कंठों से
जनयुग स्वागत है,
सिंधु-तरंगित, मलय-श्वसित,
गंगाजल-ऊर्मि-निरत है,
शरद-इन्दु-स्मित अभिनंदनहित
प्रतिध्वनित पर्वत है,
स्वागत है, स्वागत है,
जन भारत है,
जाग्रत भारत है !
स्वर्ग-खंड षड् ऋतु परिक्रमित,
आम्र-मंजरित, मधुप गुंजरित,
कुसुमित फलद्रुम पिक-कल-कूजित
उर्वर, अभिमत है,
दश दिशि हरित शस्य श्री-हर्षित
पुलक राशिवत् है,
जन भारत है,
जाग्रत भारत है,
जाति धर्म मत, वर्ग श्रेणिशत,
नीति रीति गत है,
मानवता में सकल समागत
जन मन परिणत है,
अहिंसास्त्र जन का मनुजोचित
चिर अप्रतिहत है,
बल के विमुख, सत्य के सन्मुख

हम श्रद्धानत हे
जन भारत हे,
जाग्रत भारत हे!
किरण केलिरत-रक्त विजय-ध्वज
युग प्रभातमत् हे,
कीर्तिस्तम्भवत् उन्नत मस्तक
प्रहरी हिमवत् हे
पदतल छू शत फेनिलोर्मि फन
शेषोदधि नत हे.
वर्गमुक्त हम श्रमिक कृषक जन
चिर-शरणागत हे,
जाग्रत भारत हे!

छाया

ौन, कौन तुम परिहृत-वसना,
लान-मना, भू-पतिता सी,
ात-हता विच्छिन्न लता सी,
तिश्रान्ता व्रज-वनिता सी?

नियति-वंचिता, आश्रय-रहिता,
जर्जरिता पददलिता सी,
धूलि-धूसरित मुक्त-कुन्तला,
किसके चरणों की दासी?

कहो कौन हो दमयंती सी
तुम तरु के नीचे सोई ?
हाय ! तुम्हें भी त्याग गया क्या
अलि ! नल सा निष्ठुर कोई ?

पीले पत्रों की शय्या पर
तुम विरक्ति सी, मूर्छा सी,
विजन विपिन में कौन पड़ी हो
विरह-मलिन, दुख-विधुरा सी ?

गूढ़ कल्पना सी कवियों की,
अज्ञाता के विस्मय सी,
ऋषियों के गंभीर हृदय सी,
बच्चों के तुतले भय सी ?

आशा के नव इंद्रजाल सी
सजनि ! नियति सी अंतर्धान
कहो कौन तुम तरु के नी
भावी सी हो छिपी अना

चिर अतीत की विस्मृत स्मृति सी,
नीरवता की सी झंकार,
आंखमिचौनी सी असीम की,
निर्जनता की सी उद्‌गार ?

किस रहस्यमय अभिन
सजनि ! यवनिका हो

उस अभेद्य पट के भीतर है,
किस विचित्रता का संसार ?
निर्जनता के मानस पट पर
—बार बार भर ठंडी सांस—
क्या तुम छिपकर क्रूर काल का
लिखती हो अकरुण इतिहास ?

सखि ! भिखारिणी सी तुम पथ पर
फैला कर अपना अंचल,
सूखे पातों ही को पा क्या
प्रमुदित रहती हो प्रतिपल ?

पत्रों के अस्फुट अधरों से
संचित कर सुख-दुख के मान,
सुला चुकी हो क्या तुम अपनी
इच्छाएँ सब अल्प, महान ?

कभी लोभ सी लंबी होकर,
कभी तृप्ति सी होकर पीन,
तुम संसृति की अचिर-भूति या
सजनि, नापती हो स्थिति-हीन।

कालानिल की कुंचित गति से
बार बार कंपित होकर,
निज जीवन के मलिन पृष्ठ पर
नीरव शब्दों में निर्भर

किस अतीत का करुण चित्र तुम
खींच रहो हो कोमलतर,
भग्न-भावना, विजन वेदना
विफल लालसाओं से भर ?

ऐ अवाक् निर्जन की भारति !
कंपित अधरों से अनजान
मर्म-मधुर किस सुर में गाती
तुम अरण्य के चिर आख्यान?

ऐ अस्पृश्य, अदृश्य अप्सरसि !
यह छाया-तन, छाया-लोक,
मुझको भी दे दो मायाविनि !
उर की आँखों का आलोक !

थके चरण-चिन्हों को अपनी
नीरव उत्सुकता से भर,
दिखा रही हो क्या तुम जग को
पर सेवा का मार्ग अमर ?

श्रमित तपित अवलोक पथिक को
रहती या यों दीन, मलीन ?
ऐ विटपी की व्याकुल प्रेयसि !
विश्व-वेदना में तल्लीन

दिनकर-कुल में दिव्य जन्म पा,
बढ़ कर नित तरुवर के संग

मुरझे पत्रों की साड़ी से
ढक कर अपने कोमल अंग
सदुपदेश सुमनों से तरु के
गूँथ हृदय का कोमल हार
पर-सेवा-रत रहती हो तुम,
हरती नित पथ-श्रांति अपार।

हे सखि! इस पावन अंचल से
मुझ को भी निज मुख ढँक कर
अपनी विस्मृत सुखद गोद में
सोने दो सुख से क्षण भर!
चूर्ण शिथिलता सी अँगड़ा कर
होने दो अपने में लीन,
परपीड़ा से पीड़ित होना
मुझे सिखा दो, कर मदहीन।

गाओ गाओ, विहग-बालिके?
तरुवर के मृदु मङ्गल गान,
मैं छाया में बैठ तुम्हारे
कोमल स्वर में कर लूँ स्नान।
—हाँ, सखि, आओ, बाँह खोल हम
लग कर गले जुड़ा लें प्राण?
फिर तुम तम में, मैं प्रियतम में
हो जायें द्रुत अन्तर्धान।

———

अप्सरा

निखिल कल्पनामयि अयि अप्सरि ! अखिल विस्मयाकार !
अकथ, अलौकिक, अमर, अगोचर भावों की आधार !
गूढ़, निरर्थ, असंभव अस्फुट भेदों का शृंगार !
मोहिनि, कुहकिनी, छल-विभ्रममयि, चित्र विचित्र अपार !
शैशव की तुम परिचित सहचरि जग से चिर अनजान !
नवशिशु के सँग छिप छिप रहती तुम, मा का अनुमान !
डाल अँगूठा शिशु के मुँह में देतीं मधु स्तन दान !
छिपी थपक से उसे सुलातीं, गा गा नीरव गान !
तन्द्रा के छाया-पथ से आ शिशु-उर सविलास !
अधरों से अस्फुट मुकुलों में रँगती स्वप्निल हास !
दन्तकथाओं से अबोध शिशु सुन विचित्र इतिहास !
नव नयनों में नित्य तुम्हारा रचते रूपाभास !
प्रथम रूप-मदिरा से उन्मद यौवन में उद्दाम !
प्रेयसि के प्रत्यङ्ग अङ्ग से लिपटीं तुम अभिराम !
युवति के उर में रहस्य बन, हरतीं मन प्रतियाम !
मृदुल पुलक मुकुलों से लदकर देहलता छविधाम !
इन्द्र-लोक में पुलक नृत्य तुम करतीं लघुपद-भार !
तड़ित चकित चितवन से चञ्चल कर सुर-सभा अपार !
नग्न देह में नव रँग सुरधनु छायापट सुकुमार !
खोंस नील नभ की वेणी में इन्दु कुन्द द्युति स्फार !
स्वर्गंगा में जल-विहार तुम करतीं बाहु मृणाल !

पकड़ पैरते इन्दु बिंब के शत शत रजत मराल,
उड़ उड़ नभ में शुभ्र फेन कण बन जाते उडुबाल,
सजल देहद्युति चल लहरों में बिंबित सरसिज माल।
रवि-छवि-चुम्बित चल जलदों पर तुम नभ में उस पार
लगा अङ्क से तड़ित भीत शशि-मृग-शिशु को सुकुमार,
छोड़ गगन में चञ्चल उडुगण चरण चिन्ह लघुसार,
नागदन्त नत इन्द्रधनुष पुल करती हो नित पार।
कभी स्वर्ग की थी तुम अप्सरि, अब वसुधा की बाल,
जग के शैशव के विस्मय से अपलक पलक प्रवाल!
बाल युवतियों की सरसी में चुगा मनोज्ञ मराल,
सिखलातीं मृदु रोमहास तुम चितवन कला अराल।
तुम्हें खोजते छाया वन में अब भी कवि विख्यात,
जब जग जग निशि प्रहरी जुगनू सो जाते चिर प्रात,
सिहर लहर, मर्मर तरुवर तपक तड़ित अज्ञात,
अब भी चुपके इङ्गित देते गूँज मधुप, कवि भ्रात।
गौरश्याम तन, बैठ प्रभा तम, भगिनी भ्रात सजात,
बुनते मृदुल मसृण छायाचल तुम्हें तन्वि! दिनरात।
स्वर्ण—सूत्र में रजत हिंडोरें कंचु काढ़तीं प्रात,
सुरँग रेशमी पंख तितलियाँ डुला सिरातीं गात।
तुहिनबिन्दु में इन्दुरश्मि सी सोई तुम चुपचाप,
मुकुल शयन में स्वप्न देखतीं निज निरुपम छवि आप;
चटुल लहरियों से चल चुम्बित मलय मृदुल पद चाप,

जलजों में निद्रित मधुपों से करती मौनालाप।
नील रेशमी तम का कोमल खोल लोल कच भार।
तार तरल लहरा लहरांचल स्वप्न-विकच स्तन हार,
शशि-कर सी लघु पद, सरसी में करती तुम अभिसार,
दुग्ध फेन शारद ज्योत्सना में ज्योत्स्ना सी सुकुमार।
मेहन्दीयुत मृदु करतल छवि से कुसुमित सुभग, सिंगार,
गौर देहद्युति हिम-शिखरों पर बरस रही साभार,
पद-लालिमा उषा, पुलकित पर शशि स्मित घन सोभार,
उडु-कंपन मृदु मृदु उर-स्पन्दन, चपल वीचि पदचार।
शतभावों के विकच दलों से मण्डित, एक प्रभात
खिली प्रथम सौंदर्य पद्म सी तुम जग में नवजात,
भृङ्गों से अगणित रवि, शशि ग्रह गूँज उठे अज्ञात,
जगज्जलधि हिल्लोल-विलोड़ित, गन्ध-अन्ध दिशी वात।
जगती के अनिमिप पलकों पर स्वर्णिम स्वप्न समान,
उदित हुई थीं तुम अनन्त यौवन में चिर अम्लान;
चंचल अंचल में फहरा कर भावी स्वर्ण — विहान,
स्मित आनन में नव प्रकाश से दीपित नव दिनमान।
सखि ! मानस के स्वर्गवास में चिर सुख में आसीन,
अपनी ही सुखमा में अनुपम, इच्छा में स्वाधीन,
प्रतियुग में आती हो रंगिणि ! रच रच रूप नवीन,
तुम सुर-नर-मुनि-ईप्सित अप्सरि ! त्रिभुवन भर में लीन।
अंग अंग अभिनय शोभा का नव वसंत सुकुमार,
भृकुटि भंग नव नव इच्छा के भृङ्गों का गुञ्जार;

विहँस-विहँस मेरे दीपक जल !
द्रुम के अंग हरित कोमलतम,
ज्वाला को करते हृदयंगम;
वसुधा के जड़ अन्तर में भी;
बंदी है तापों की हलचल !

बिखर-बिखर मेरे दीपक जल !
मेरे निश्वासों से द्रुततर,
सुभग न तू बुझने का भय कर,
मैं अंचल की ओट किये हूँ;
अपनी मृदु पलकों से चंचल !

सहज-सहज मेरे दीपक जल !
सीमा ही लघुता का बंधन,
है अनादि तू मत घड़ियां गिन;
मैं दृग के अक्षय कोषों से—
तुझ में भरती हूँ आँसू-जल !

सजल-सजल मेरे दीपक जल !
तम असीम तेरा प्रकाश चिर;
खेलेंगे नव खेल निरंतर,
तम के अणु-अणु में विद्युत्-सा
अमिट चित्र अंकित करता चल !

सरल-सरल मेरे दीपक जल !
तू जल-जल जितना होता क्षय

श्रीमति महादेवी वर्मा

मेरे दीपक

मधुर-मधुर मेरे दीपक जल,
युग-युग प्रतिदिन प्रतिक्षण प्रतिपल;
प्रियतम का पथ आलोकित कर!
सौरभ फैला विपुल धूप बन;
मृदुल मोम सा घुल रे मृदु तन,
दे प्रकाश का सिंधु अपरिमित,
तेरे जीवन का अणु गल गल!

पुलक-पुलक मेरे दीपक जल!
सारे शीतल कोमल नूतन
माँग रहे तुझ से ज्वाला-कण;
विश्व-शलभ सिर धुन कहता 'मैं
हाय न जल पाया तुझ में मिल'!

सिहर-सिहर मेरे दीपक जल!
जलते नभ में देख असंख्यक;
स्नेह-हीन नित कितने दीपक,
जलमय सागर का उर जलता
विद्युत ले घिरता है बादल!

मेरे दीपक जल!
विहँस-विहँस मेरे दीपक जल!
द्रुम के अंग हरित कोमलतम,
ज्वाला को करते हृदयंगम;
वसुधा के जड़ अन्तर में भी;
बंदी है तापों की हलचल!
बिखर-बिखर मेरे दीपक जल!

मेरे निश्वासों से द्रुततर,
सुभग न तू बुझने का भय कर,
मैं अंचल की ओट किये हूँ;
अपनी मृदु पलकों से चंचल!
सहज-सहज मेरे दीपक जल!

सीमा ही लघुता का बंधन,
है अनादि तू मत घड़ियां गिन;
मैं दृग के अक्षय कोषों से—
तुझ में भरती हूँ आँसू-जल!
सजल-सजल मेरे दीपक जल!

तम असीम तेरा प्रकाश चिर;
खेलेंगे नव खेल निरंतर,
तम के अणु-अणु में विद्युत्-सा
अमिट चित्र अंकित करता चल!
सरल-सरल मेरे दीपक जल!

तू जल-जल जितना होता क्षय

वह समीप आता छलनामय,
मधुर मिलन में मिट जाना तू—
उसकी उज्ज्वल स्मित में घुल खिल
मदिर-मदिर मेरे दीपक जल!
प्रियतम का पथ आलोकित कर!

— — —

परिचय क्या

तुम मुझ में, प्रिय! फिर परिचय क्या!
तारक में छवि, प्राणों में स्मृतिः
पलकों में नीरव पद की गति,
लघु उर में पुलकों की संसृति,
भर लाई हूँ तेरी चंचल
और करूँ जगमें संचय क्या?
तेरा मुख सहास अरुणोदय,
परिछांई रजनी विषादमय,
यह जाग्रति वह नींद स्वप्नमय,
खेल-खेल थक थक सोने दो,
मैं समझूंगी सृष्टि प्रलय क्या?
तेरा अधर-विचुम्बित प्याला,
तेरी ही स्मित मिश्रित हाला,
तेरा ही मानस मधुशाला;

फिर पूछूँ क्यों मेरे साकी !
देते हो मधुमय विषमय क्या ?
रोम रोम में नंदन पुलकित,
साँस-साँस में जीवन शत-शत,
स्वप्न-स्वप्न में विश्व अपरिचित;
मुझ में नित बनते मिटते प्रिय,
स्वर्ग मुझे क्या निष्क्रिय लय क्या ?
हारूँ तो खोऊँ तो अपनापन,
पाऊँ प्रियतम में निर्वासन,
जीत बनूँ तेरा ही बंधन,
भार लाऊँ सीपी में सागर
प्रिय ! मेरी अब हार विजय क्या ?
चित्रित तू मैं हूँ रेखा-क्रम;
मधुर राग तू मैं स्वर-संगम,
तू असीम मैं सीमा का भ्रम;
काया छाया में रहस्यमय !
प्रेयसि प्रियतम का अभिनव क्या

निश्वासों का नीड़, निशा का
बन जाता जब शयनागार।
लुट जाते अभिराम छिन्न
मुक्तावलियों के बन्दनवार

तब बुझते तारों के नीरव नयनों का यह हाहाकार।
आँसू से लिख लिख जाता है, कितना अस्थिर है संसार!'

हँस देता जब प्रात, सुनहरे
अंचल में बिखरा रोली।
लहरों की बिछलन पर जब
मचली पड़तीं किरणें भोली।

तब कलियाँ चुपचाप उठाकर पल्लव के घूँघट सुकुमार।
छलकी पलकों से कहती हैं, 'कितना मादक है संसार'

देकर सौरभ दान पवन से
कहते जब मुरझाये फूल।
'जिसके पथ में बिछे वही
क्यों भरता इन आँखों में धूल' ?

'अब इनमें क्या सार' मधुर जब गाती भौंरों की गुंजार।
मर्मर का रोदन कहता है, 'कितना निष्ठुर है संसार'!

स्वर्ण वर्ण से दिन लिख जाता
जब अपने जीवन की हार।
गोधूली नभ में आंगन में
देती अगणित दीपक वार।

हँस कर तब उस पार तिमिर का कहता बढ़ बढ़ पारावार!
'बीते युग, पर बना हुआ है अब तक मतवाला संसार'।

स्वप्न-लोक के फूलों से कर
अपने जीवन का निर्माण।

सांध्यगीत

'अमर हमारा राज्य' सोचते,

हैं जब मेरे पागल प्राण।

आकर तब अज्ञात देश से जाने किसकी मृदु झंकार।

गा जाती है करुण स्वरों में 'कितना पागल है संसार'!

बीन भी हूँ

बीन भी हूँ मैं तुम्हारी रागिनी भी हूँ!

नींद थी मेरी अचल निस्पंद कण कण में,

प्रथम जागृति थी जगत के प्रथम स्पंदन में;

प्रलय में मेरा पता पद-चिह्न जीवन में;

शाप हूँ जो बन गया वरदान बंधन में;

कूल भी हूँ, कूलहीन प्रवाहिनी भी हूँ!

नयन में जिसके जलद वह तृषित चातक हूँ,

शलभ जिसके प्राण में वह निठुर दीपक हूँ,

फूल को उर में छिपाये विकल बुलबुल हूँ,

एक होकर दूर तन से छाँह वह चल हूँ,

दूर तुम से हूँ अखंड सुहागिनी भी हूँ

आग हूँ जिससे ढुलकते विंदु हिमजल के;

शून्य हूँ जिसको बिछे हैं पांवड़े पल के;

पुलक हूँ वह जो पला है कठिन प्रस्तर में,

हूँ वही प्रतिबिम्ब जो आधार के उर में;

नील घन भी हूँ सुनहली दामिनी

नाश भी हूँ अनंत विकास का क्रम भी;
त्याग का दिन भी, चरम आसक्ति का तम भी;
तार भी, आघात भी, झंकार की गति भी;
पात्र भी, मधु भी, मधुप भी, मधुर विस्मृति भी;
अधर भी हूँ और स्मित की चाँदनी भी हूँ।

मैं नीर भरी दुख की बदली!
स्पंदन में चिर निस्पंद बसा,
क्रन्दन में आहत विश्व हँसा,
नयनों में दीपक से जलते
पलकों में निर्झरिणी मचली।
मेरा पग पग संगीत-भरा,
श्वासों से स्वप्न-पराग झरा,
नभ के नव रँग बुनते दुकूल,
छाया में मलय-बयार पली!

मैं क्षितिज-भृकुटी पर घिर धूमिल,
चिंता का भार बनी अविरल,
रज-कण पर जल-कण हो बरसी
नव जीवन-अंकुर बन निकली!
पथ को न मलिन करता आना,
पदचिन्ह न दे जाता जाना,
सुधि मेरे आगम की जग में
सुख की सिहरन हो अन्त खिली!

विस्तृत नभ का कोई कोना।
मेरा न कभी अपना होना।
परिचय इतना, इतिहास यही
उमड़ी कल थी मिट आज चली !

श्री रामधारी सिंह 'दिनकर'

कल्पने !

व्योम-कुंजों की परी अयि कल्पने !
भूमि को निज स्वर्ग पर ललचा नहीं।
उड़ न सकते हम तुम्हारे स्वप्न तक,
शक्ति है तो आ बसा अलका यहीं।
फूल से सज्जित तुम्हारे अङ्ग हैं,
और हीरक-ओस का शृंगार है।
धूल में तरुणी-तरुण हम रो रहे,
वेदना का शीश पर गुरु भार है।
अरुण की चिर ज्योति तेरे देश में,
है सुना, उसकी अमिट मुस्कान है।
टकटकी मेरी क्षितिज पर है लगी,
निशि गई, हँसता न स्वर्ण-विहान है
व्योम-कुंजों की सखी अयि कल्पने !
आ उतर, हँस ले जरा वनफूल में।

रेणुके ! हँसने लगे जुगनू, चलो.
आज रूकें खँडहरों की धूल में।



अगेय स्वप्न का श्रोता

गायक, गान, गेय से आगे मैं अगेय स्वप्न का श्रोता मन !
सुना श्रवण चाहते अब तर्क
भेद हृदय जो जान चुका है,
बुद्धि खोजती उन्हें जिन्हें
जिवन निज को कर दान चुका है
खो जाने को प्राण विकल हैं
चढ़ उन पद पद्मों के ऊपर,
वहु पाश से दूर जिन्हें
विश्वास हृदय का मान चुका है,
जोह रहे उनका पथ दृग, जिनको पहचान गया है चिंतन,
गायक, गान, गेय से आगे, मैं अगेय स्वप्न का श्रोता मन !
छल-छल बह रहा अगम की
ओर अभय इन प्राणों का जल,
जन्म-मरण की युगल घाटियाँ
रोक रहीं जिसका पथ निष्फल,
मैं जल-नाद श्रवण कर चुप हूँ
सोच रहा यह खड़ा पुलिन पर—

है कुछ अर्थ, लक्ष्य इस रव का ?

"या कुल-कुल कल कल ध्वनि केवल"

य, अदृश्य कौन सत् इनमें ; मैं था प्राण प्रवाह चिरंतन?

ायक, गान, गेय से आगे मैं अगेय स्वप्न का श्रोता मन !

जलकर चीख उठा वह कवि था,

साधक जो नीरव जपने में,

गाये गीत खोल मुँह क्या वह,

जो खो रहा स्वयं सपने में ?

सुषमाएँ जो खेल रही हैं

जल-थलमें, गिरी-गगन-पवन में,

नयन मूँद अन्तर्मुख-जीवन

खोज रहा उनको अपने में।

न्तर बाहर एक छवि देखी, आकृति कौन ? कौन है दर्पण ?

ायक, गान, गेय से आगे, मैं अगेय स्वप्न का श्रोता मन ?

चाह यही छू लूँ स्वप्नों की

नग्न-कांति बढ़कर निज कर से

इच्छा है आवरण स्त्ररत हो,

गिरे दूर अन्तःश्रुति पर से।

पहुँच अगेय-गेय-संगम पर,

सुनूँ मधुर वह राग निरामय,

फूट रहा जो सत्य, सनातन

कविमनीषी के स्तर-स्तर से।

गीत बनो जिनकी झाँकी अब दृग में उन स्वप्नों का अंजन
गायक, गान, गेय से आगे, मैं अगेय स्वप्न का श्रोता मन

———

हिमालय

मेरे नगपति! मेरे विशाल!

साकार, दीप्य, गौरव विराट
पौरुष के पुँजीभूत ज्वाल
मेरी जननी के हिम किरीट
मेरे भारत के दिव्य भाल

मेरे नगपति। मेरे विशाल।

युग-युग अजेय, निर्बंध, मुक्त,
युग-युग गर्वोन्नत, नित महान्
निस्सीम व्योम में तान रहे
युग से किस महिमा का वितान
कैसी अखण्ड यह चिर समाधि
यतिवर! कैसा यह अमर ध्यान
तू महाशून्य में खोज रहा
किस जटिल समस्या का निदान
उलझन का कैसा विषम जाल
—मेरे नगपति! मेरे विशाल।

ओ, मौन तपस्या-लीन यती
पल भर तो कर नयनोन्मेष
रे ! ज्वालाओं से दग्ध विकल
है तड़प रहा पद पर स्वदेश।
सुखसिन्धु, पंचनद, ब्रह्मपुत्र
गंगा यमुना की अमिय-धार
जिस पुण्य-भूमि की ओर बही
तेरी विगलित करुणा उदार
जिसके द्वारों पर खड़े क्रांत
सीमापति ! तू ने की पुकार
"पददलित इसे करना पीछे
पहिले ले मेरा सिर उदार ॥
उस पुण्य भूमि पर आज तपी
रे आन पड़ा संकट कराल
व्याकुल तेरे सुत तड़प रहे
दारुण दुख ज्वाला में बेहाल
मेरे नगपति ! मेरे विशाल।

कितनी मणियाँ लुट गईं, मिटा
कितना मेरा वैभव अशेष !
तू ध्यान मग्न ही रहा, इधर
वीरान हुआ प्यारा स्वदेश
कितनी द्रुपदा के बाल खुले

कितनी कलियों का अन्त हुआ
कह हृदय खोल चित्तौर ! यहाँ
कितने दिन ज्वाल-वसन्त हुआ
पूछे, सिकता-कण से हिमपति
तेरा वह राजस्थान कहाँ
वन वन स्वतंत्रता दीप लिये
फिरने वाला बलवान कहाँ
तू पूछ अवध से राम कहाँ
वृंदा ! बोलो घनश्याम कहाँ
ओ मगध ! कहाँ मेरे अशोक
वह चन्द्रगुप्त बलधाम कहाँ
पैरों पर ही है पड़ी हुई
मिथिला भिखारिणी सुकुमारी ।
तू पूछ, कहाँ इसने खोई
अपनी अनन्त निधियाँ सारी ।
री कपिलवस्तु ! कह बुद्धदेव
के वे मङ्गल उपदेश कहाँ ?
तिब्बत, इरान, जापान, चीन
तक गये हुए संदेश कहाँ ?
वैशाली के भग्नावशेष से
पूछ लिच्छवी-शान कहाँ ?
ओ री उदास गंडकी ! बता

विद्यापति कवि के गान कहाँ ?
रे! रोक युधिष्ठर को न यहाँ
जाने दे उनको स्वर्ग धीर!
पर फिरा हमें गांडीव गदा
लौटा दे अर्जुन भीम वीर।
कह दे शंकर से आज करें
वे प्रलय-नृत्य फिर एक बार।
सारे भारत में गूँज उठे
'हर-हरबम' का फिर महोच्चार!
ले अँगड़ाई उठ, हिले धरा
कर निज विराट स्वर में निनाद
तू शैलराट्! हुँकार भरे
फट जाय कुहा, भागे प्रमाद।
मेरे जननी के हिम किरीट
मेरे भारत के दिव्य भाल!
नवयुग-शंखध्वनि जगा रही
जागो नग-पति! जागो विशाल!

झन-झन-झन-झन-झन झनन झनन—

मेरी पायल झनकार रही तलवारों की झनकारों में
अपनी आगमनी बजा रही मैं आप क्रुद्ध हुंकारों में

कितनी कलियों का अन्त हुआ
कह हृदय खोल चित्तौर ! यहाँ
कितने दिन ज्वाल-वसन्त हुआ
पूछे, सिकता-कण से हिमपति
तेरा वह राजस्थान कहाँ
वन वन स्वतंत्रता दीप लिये
फिरने वाला बलवान कहाँ
तू पूछ अवध से राम कहाँ
वृंदा ! बोलो घनश्याम कहाँ
ओ मगध ! कहाँ मेरे अशोक
वह चन्द्रगुप्त बलधाम कहाँ
पैरों पर ही है पड़ी हुई
मिथिला भिखारिणी सुकुमारी।
तू पूछ, कहाँ इसने खोई
अपनी अनन्त निधियाँ सारी।
री कपिलवस्तु ! कह बुद्धदेव
के वे मङ्गल उपदेश कहाँ ?
तिब्बत, इरान, जापान, चीन
तक गये हुए संदेश कहाँ ?
वैशाली के भग्नावशेष से
पूछ लिच्छवी-शान कहाँ ?
ओ री उदास गंडकी ! बता

साङ्गता

विद्यापति कवि के गान कहाँ ?
विद्यापति कवि के गान कहाँ ?
रे ! रोक युधिष्ठिर को न यहाँ
जाने दे उनको स्वर्ग धीर !
पर फिरा हमें गांडीव गदा
लौटा दे अर्जुन भीम वीर ।
कह दे शंकर से आज करें
वे प्रलय-नृत्य फिर एक बार ।
सारे भारत में गूँज उठे
'हर-हर-बम' का फिर महोच्चार !
ले अँगड़ाई उठ, हिले धरा
कर निज विराट स्वर में निनाद
तू शैलराट् ! हुँकार भरे
फट जाय कुहा, भागे प्रमाद ।
मेरे जननी के हिम किरीट
मेरे भारत के दिव्य भाल !
नवयुग-शंखध्वनि जगा रही
जागो नग-पति ! जागो विशाल !

कितनी कलियों का अन्त हुआ
कह हृदय खोल चित्तौर ! यहाँ
कितने दिन ज्वाल-वसन्त हुआ
पूछे, सिकता-कण से हिमपति
तेरा वह राजस्थान कहाँ
वन वन स्वतंत्रता दीप लिये
फिरने वाला बलवान कहाँ
तू पूछ अवध से राम कहाँ
वृंदा ! बोलो घनश्याम कहाँ
ओ मगध ! कहाँ मेरे अशोक
वह चन्द्रगुप्त बलधाम कहाँ
पैरों पर ही है पड़ी हुई
मिथिला भिखारिणी सुकुमारी।
तू पूछ, कहाँ इसने खोई
अपनी अनन्त निधियाँ सारी।
री कपिलवस्तु ! कह बुद्धदेव
के वे मङ्गल उपदेश कहाँ ?
तिब्बत, इरान, जापान, चीन
तक गये हुए संदेश कहाँ ?
वैशाली के भग्नावशेष से
पूछ लिच्छवी-शान कहाँ ?
ओ री उदास गंडकी ! बता

विद्यापति कवि के गान कहाँ ?
है ! रोक युधिष्ठिर को न यहाँ
जाने दें उनको स्वर्ग धीर !
पर फिरा हमें गांडीव गदा
लौटा दे अर्जुन भीम वीर ।
कह दे शंकर से आज करें
वे प्रलय-नृत्य फिर एक बार ।
सारे भारत में गूँज उठे
'हर-हर-बम' का फिर महोच्चार !
लें अँगड़ाई उठ, हिले धरा
कर निज विराट स्वर में निनाद
तू शैलराट् ! हुँकार भरे
फट जाय कुहा, भागे प्रमाद ।
मेरे जननी के हिम किरीट
मेरे भारत के दिव्य भाल !
नवयुग-शंखध्वनि जगा रही
जागो नग-पति ! जागो विशाल !

कितनी कलियों का अन्त हुआ
कह हृदय खोल चित्तौर ! यहाँ
कितने दिन ज्वाल-वसन्त हुआ
पूछे, सिकता-कण से हिमपति
तेरा वह राजस्थान कहाँ

वन वन स्वतंत्रता दीप लिये
फिरने वाला बलवान कहाँ
तू पूछ अवध से राम कहाँ
वृंदा ! बोलो घनश्याम कहाँ

ओ मगध ! कहाँ मेरे अशोक
वह चन्द्रगुप्त बलधाम कहाँ
पैरों पर ही है पड़ी हुई
मिथिला भिखारिणी सुकुमारी ।
तू पूछ, कहाँ इसने खोई
अपनी अनन्त निधियाँ सारी ।
री कपिलवस्तु ! कह बुद्धदेव
के वे मङ्गल उपदेश कहाँ ?
तिब्बत, इरान, जापान, चीन
तक गये हुए संदेश कहाँ ?
वैशाली के भग्नावशेष से
पूछ लिच्छवी-शान कहाँ ?
ओ री उदास गंडकी ! बता

विद्यापति कवि के गान कहाँ ?
रे ! रोक युधिष्ठिर को न यहाँ
जाने दें उनको स्वर्ग धीर !
पर फिरा हमें गांडीव गदा
लौटा दे अर्जुन भीम वीर ।
कह दे शंकर से आज करें
वे प्रलय-नृत्य फिर एक बार ।
सारे भारत में गूँज उठे
'हर-हर-बम' का फिर महोच्चार !
ले अँगड़ाई उठ, हिले धरा
कर निज विराट स्वर में निनाद
तू शैलराट् ! हुँकार भरे
फट जाय कुहा, भागे प्रमाद ।
मेरे जननी के हिम किरीट
मेरे भारत के दिव्य भाल !
नवयुग-शंखध्वनि जगा रही
जागो नग-पति ! जागो विशाल !

झन-झन-झन-झन-झन झनन झनन—

मेरी पायल झनकार रही तलवारों की झनकारों में
अपनी आगमनी बजा रही मैं आप क्रुद्ध हुंकारों में

कितनी कलियों का अन्त हुआ
कह हृदय खोल चित्तौर ! यहाँ
कितने दिन ज्वाल-वसन्त हुआ
पूछे, सिकता-कण से हिमपति
तेरा वह राजस्थान कहाँ
वन वन स्वतंत्रता दीप लिये
फिरने वाला बलवान कहाँ
तू पूछ अवध से राम कहाँ
वृंदा ! बोलो घनश्याम कहाँ
ओ मगध ! कहाँ मेरे अशोक
वह चन्द्रगुप्त बलधाम कहाँ
पैरों पर ही है पड़ी हुई
मिथिला भिखारिणी सुकुमारी ।
तू पूछ, कहाँ इसने खोई
अपनी अनन्त निधियाँ सारी ।
री कपिलवस्तु ! कह बुद्धदेव
के वे मङ्गल उपदेश कहाँ ?
तिब्बत, इरान, जापान, चीन
तक गये हुए संदेश कहाँ ?
वैशाली के भग्नावशेष से
पूछ लिच्छवी-शान कहाँ ?
ओ री उदास गंडकी ! बता

विद्यापति कवि के गान कहाँ ?
रे ! रोक युधिष्ठिर को न यहाँ
जाने दें उनको स्वर्ग धीर !
पर फिरा हमें गांडीव गदा
लौटा दे अर्जुन भीम वीर।
कह दे शंकर से आज करें
वे प्रलय-नृत्य फिर एक बार।
सारे भारत में गूँज उठे
'हर-हर-बम' का फिर महोच्चार!
ले अँगड़ाई उठ, हिले धरा
कर निज विराट स्वर में निनाद
तू शैलराट् ! हुँकार भरे
फट जाय कुहा, भागे प्रमाद।
मेरे जननी के हिम किरीट
मेरे भारत के दिव्य भाल !
नवयुग-शंखध्वनि जगा रही
जागो नग-पति! जागो विशाल !

झन-झन-झन-झन-झन झनन झनन—

मेरी पायल झनकार रही तलवारों की झनकारों में
अपनी आगमनी बजा रही मैं आप क्रुद्ध हुंकारों में

कितनी कलियों का अन्त हुआ
कह हृदय खोल चित्तौर ! यहाँ
कितने दिन ज्वाल-वसन्त हुआ।
पूछे, सिकता-कण से हिमपति
तेरा वह राजस्थान कहाँ
वन वन स्वतंत्रता दीप लिये
फिरने वाला बलवान कहाँ
तू पूछ अवध से राम कहाँ
वृंदा ! बोलो घनश्याम कहाँ
ओ मगध ! कहाँ मेरे अशोक
वह चन्द्रगुप्त बलधाम कहाँ
पैरों पर ही है पड़ी हुई
मिथिला भिखारिणी सुकुमारी।
तू पूछ, कहाँ इसने खोई
अपनी अनन्त निधियाँ सारी।
री कपिलवस्तु ! कह बुद्धदेव
के वे मङ्गल उपदेश कहाँ ?
तिब्बत, इरान, जापान, चीन
तक गये हुए संदेश कहाँ ?
वैशाली के भग्नावशेष से
पूछ लिच्छवी-शान कहाँ ?
ओ री उदास गंडकी ! बता

कितनी कलियों का अन्त हुआ
कह हृदय खोल चित्तौर ! यहाँ
कितने दिन ज्वाल-वसन्त हुआ।
पूछे, सिकता-कण से हिमपति
तेरा वह राजस्थान कहाँ
वन वन स्वतंत्रता दीप लिये
फिरने वाला बलवान कहाँ
तू पूछ अवध से राम कहाँ
वृंदा ! बोलो घनश्याम कहाँ
ओ मगध ! कहाँ मेरे अशोक
वह चन्द्रगुप्त बलधाम कहाँ
पैरों पर ही है पड़ी हुई
मिथिला भिखारिणी सुकुमारी।
तू पूछ, कहाँ इसने खोई
अपनी अनन्त निधियाँ सारी।
री कपिलवस्तु ! कह बुद्धदेव
के वे मङ्गल उपदेश कहाँ ?
तिब्बत, इरान, जापान, चीन
तक गये हुए संदेश कहाँ ?
वैशाली के भग्नावशेष से
पूछ लिच्छवी-शान कहाँ ?
ओ री उदास गंडकी ! बता

विद्यापति कवि के गान कहाँ ?
रे ! रोक युधिष्ठर को न यहाँ
जाने दें उनको स्वर्ग धीर !
पर फिरा हमें गांडीव गदा
लौटा दे अर्जुन भीम वीर।
कह दे शंकर से आज करें
वे प्रलय-नृत्य फिर एक बार।
सारे भारत में गूँज उठे
'हर-हरबम' का फिर महोच्चार!
ले अँगड़ाई उठ, हिले धरा
कर निज विराट स्वर में निनाद
तू शैलराट् ! हुँकार भरे
फट जाय कुहा, भागे प्रमाद।
मेरे जननी के हिम किरीट
मेरे भारत के दिव्य भाल !
नवयुग-शंखध्वनि जगा रही
जागो नग-पति ! जागो विशाल !

झन-झन-झन-झन-झन झनन झनन—

मेरी पायल झनकार रही तलवारों की झनकारों में
अपनी आगमनी बजा रही मैं आप क्रुद्ध हुंकारों में

कितनी कलियों का अन्त हुआ
कह हृदय खोल चित्तौर ! यहाँ
कितने दिन ज्वाल-वसन्त हुआ
पूछे, सिकता-कण से हिमपति
तेरा वह राजस्थान कहाँ

वन वन स्वतंत्रता दीप लिये
फिरने वाला बलवान कहाँ
तू पूछ अवध से राम कहाँ
वृंदा ! बोलो घनश्याम कहाँ

ओ मगध ! कहाँ मेरे अशोक
वह चन्द्रगुप्त बलधाम कहाँ
पैरों पर ही है पड़ी हुई
मिथिला भिखारिणी सुकुमारी।
तू पूछ, कहाँ इसने खोई
अपनी अनन्त निधियाँ सारी।
री कपिलवस्तु ! कह बुद्धदेव
के वे मङ्गल उपदेश कहाँ ?

तिब्बत, ईरान, जापान, चीन
तक गये हुए संदेश कहाँ ?
वैशाली के भग्नावशेष से
पूछ लिच्छवी-शान कहाँ ?
ओ री उदास गंडकी ! बता

विद्यापति कवि के गान कहाँ ?
रे ! रोक युधिष्ठिर को न यहाँ
जाने दें उनको स्वर्ग धीर !
पर फिरा हमें गांडीव गदा
लौटा दे अर्जुन भीम वीर ।
कह दे शंकर से आज करें
वे प्रलय-नृत्य फिर एक बार ।
सारे भारत में गूँज उठे
'हर-हर-बम' का फिर महोच्चार !
ले अँगड़ाई उठ, हिले धरा
कर निज विराट स्वर में निनाद
तू शैलराट् ! हुँकार भरे
फट जाय कुहा, भागे प्रमाद ।
मेरे जननी के हिम किरीट
मेरे भारत के दिव्य भाल !
नवयुग-शंखध्वनि जगा रही
जागो नग-पति ! जागो विशाल !

झन-झन-झन-झन-झन झनन झनन—

मेरी पायल झनकार रही तलवारों की झनकारों में
अपनी आगमनी बजा रही मैं आप क्रुद्ध हुंकारों में

मैं अहंकार सी कड़क ठठा हँसती विद्युत की धारों में
बन काल हुताशन खेल रही पगली मैं फूट पहाड़ों में
अँगड़ाई में भूचाल, साँस में, लंका के उनचास पवन

झन-झन-झन झन-झन झनन-झनन ।

मेरे मस्तक के छत्र-मुकुट वसु-काल-सर्पिणी के शत फन,
मुझ चिर कुमारिका के ललाट में नित्य नवीन रुधिर-चंदन
आँजा करती हूँ चिता-धूम का दृग में अंध-तिमिर-अंजन,
संहार-लपट का चीर पहन नाचा करती मैं छूम-छनन

झन-झन-झन झन-झन झनन-झनन ।

पायल की पहली झमक, सृष्टि में कोलाहल छा जाता है ।
पड़ते जिस ओर चरण मेरे, भूगोल उधर दब जाता है ।
लहराती लपट दिशाओं में खलभल खगोल अकुलाता है
पर कहीं विहग सा निरवलंब गिर स्वर्ग-नरक जल जाता है
गिरते दहाड़ कर शैल-शृंग मैं जिधर फेरती हूँ चितवन ।

झन-झन-झन झन-झन झनन-झनन ।

रस्सों से कसे जवान पाप-प्रतीकार न जब कर पाते हैं ।
बहिनों की लुटती लाज देख कर काँप २ रह जाते हैं ।
शस्त्रों के भय से जब निरस्त्र आँसू भी नहीं बहाते हैं ।
पी अपमानों के गरल घूँट शासित जब होंठ चबाते हैं ।
जिस दिन रह जाता क्रोध मौन, मेरी वह भीषण जन्म लगन

झन-झन-झन झन-झन झनन-झनन ।

पौरुष को बेड़ी डाल पाप का अभय रास जब होता है।
ले जगदीश्वर का नाम खड्ग कोई दिल्लीश्वर धोता है।
धनके विलास का बोझ दुखी, दुर्बल दरिद्र जब ढोता है।
दुनियाँ को भूखों मार भूप जब सुखी महल में सोता है।
सहती सब कुछ मन मार प्रजा कसमस करता मेरा यौवन

झन-झन-झन झन-झन झनन-झनन।

वैभव के बल से जब समाज के पाप पुण्य बन जाते हैं!
धनहीन पुण्य को स्पृश्य नहीं ईश्वर भी जब कर पाते हैं
दुर्जय मानव को शास्त्र देव-चरणों की धूल बताते हैं।
पाखण्ड, पाप, व्यभिचार; धर्म से पुष्टि पेय जब पाते हैं
तब उड़ती कोप कृशानु लिये तोरों सी मेरी वह्नि-किरण

झन-झन-झन झन-झन झनन-झनन।

श्वानों को मिलता दूध-वस्त्र, भूखे बालक अकुलाते हैं।
मा की हड्डी से चिपक, ठिठुर, जाड़ों रात बिताते हैं।
युवती के लज्जा-वसन बेंच जब ब्याज चुकाये जाते हैं।
मालिक जब तेल फुलेलों पर पानी सा द्रव्य बहाते हैं।
पापी महलों का अहंकार देता मुझको तब आमन्त्रण

झन-झन-झन झन-झन झनन-झनन।

डरपोक हुकूमत ज़ुल्मों से लोहा जब नहीं बजाती है।
हिम्मत वाले कुछ कहते हैं, तब जीभ तराशी जाती है।
उलटी चालें ये देख देश में हैरत सी छा जाती है।

मिट्टी की ओदी आँच छिपी तब और अधिक धुँधआती है
सहसा त्रिशूलधर खड़ी होती दुर्गा मैं करने दस्यु दलन।

झन-झन-झन झन-झन झनन झनन।

चढ़कर जनून सी चलती हूँ मृत्युंजय वीर कुमारों पर।
आतंक फैल जाता कानूनी पार्लमेन्ट, सरकारों पर।
'नीरो' के जाते प्राण सूख मेरे कठोर हुँकारों पर।
कर अट्टहास इठलाती हूँ—जारों के हाहाकारों पर।
झंझा सी पकड़ झकोर हिला देती दंभी के सिंहासन।

झन-झन-झन झन-झन झनन-झनन।

मैं निस्तेजों का तेज, युगों के मूक मौन की बानी हूँ।
दिलजले शासितों के दिल की मैं जलती हुई कहानी हूँ।
सदियों की जब्ती तोड़ जगी मैं उस ज्वाला की रानी हूँ।
मैं जहर उगलती फिरती हूँ, मैं विष से भरी जवानी हूँ।
भूखी बाघिन की घात क्रूर, आहत भुजंगिनी का दंशन,

झन-झन-झन झन-झन झनन-झनन।

जब हुई हुकूमत आँखों पर, जनमी चुपके मैं आहों में।
कोड़ों की खाकर मार पली, पीड़ित की दबी कराहों में।
सोने सी निखर जवान हुई तप कड़ी दमन की दाहों में
ले जान हथेली पर निकली मैं मर-मिटने की चाहों में।
मेरे चरणों में खोज रहे भय-कंपित तीनों लोक शरण।

झन-झन-झन झन-झन झनन-झनन।

असि की नोकों से मुकुट जीत अपने सिर उसे सजाती हूँ।
ईश्वर का आसन छीन, कूद मैं आप खड़ी हो जाती हूँ।
थर थर करते कानून, न्याय, इङ्गित पर जिन्हें नचातीहूँ।
भयभीत पातकी धर्मों से अपने पग मैं धुलवाती हूँ।
सिर झुका घमंडी सरकारें करतीं मेरा अर्चन-पूजन।

झन-झन-झन झन-झन झनन-झनन

मुझ विपथगामिनीको न ज्ञात किस रोज किधरसे आऊँ
मिट्टी से किस दिन जाग क्रुद्ध अंबर में आग लगाऊँगी
आँखें अपनी कर बंद देश में जब भूकम्प मचाऊँगी।
किसका टूटेगा शृंग, न जाने किसका महल गिराऊँगी
निर्बंध, क्रूर, निर्मोह सदा, मेरा कराल नर्तन, गर्जना।

झन-झन-झन झन-झन झनन-झनन

अबकी अगस्त्य की बारी है, पापों के पारावार! सजग,
बैठे 'विसूवियस' के मुख पर, भोले अबोध संसार! सजग,
रेशों का रक्त कृशानु हुआ, ओ जुल्मी तलवार! सजग,
दुनिया के 'नीरो' सावधान! दुनिया के पापी जार! सजग
जाने, किस दिन फुँकार उठें पद-दलित काल सर्पों के फन

झन-झन-झन झन-झन झनन-झनन

श्री रामकुमार वर्मा

अशान्त

नश्वर स्वर से कैसे गाऊँ आज अनश्वर गीत!
जीवन की इस प्रथम हार में कैसे देखूँ जीत!
उषा अभी सुकुमार क्षणों में होगी वही सतेज;
लता बनेगी ओस-बिन्दु की सरल मृत्यु की सेज!
कह सकता है कौन, देखता हूँ मैं भी चुपचाप;
किसका गायन बने, न जाने मेरे प्रति अभिशाप!

क्या है अंतिम लक्ष्य-निराशा के पथ का?—अज्ञात!
दिन को क्यों लपेट देती है श्याम वस्त्र में रात?
और काँच के टुकड़े बिखरा कर क्यों पथ के बीच,
भूले हुए पथिक शशि को दुख देता है नभ नीच?
यही निराशामय उलझन है, क्या माया का जाल?
यहाँ लता में लिपटा रहता, छिपकर भीषण व्याल!

देख रहा हूँ बहुत दूर पर शांति-रश्मि की रेख,
उस प्रकाश से मैं अशांत तम ही सकता हूँ देख,
काँप रही स्वर अनिल-लहर रह-रह कर अधिक सरोष,
डर कर निरपराध मन अपने ही को देता दोष!
कैसा है अन्याय? न्याय का स्वप्न देखना पाप;
मेरा ही आनन्द बन रहा [illegible] है संताप!

हास्य कहाँ है ? उसमें भी है रोदन का परिणाम,
प्रेम कहाँ है ? घृणा उसी में करती है विश्राम,
दया कहाँ है ? दूषित उसको करता रहता रोष,
पुण्य कहां है ? उसमें भी तो छिपा हुआ है दोष,
धूल हाय ! बनने ही को खिलता है फूल अनूप;
वह विकास है मुरझा जाने ही का पहला रूप !

मेरे दुख में प्रकृति न देती क्षणभर मेरा साथ,
उठा शून्य में रह जाता है मेरा भिक्षुक हाथ;
मेरे निकट शिलाएँ, पाकर मेरा स्वास-प्रवाह,
बडी देर तक गुंजित करती रहतीं मेरी आह;
'मर ! मर' शब्दों में हँस कर; पत्ते हो जाते मौन;
भूल रहा हूँ स्वयं इस समय मैं हूँ जग में कौन ?

वह सरिता है, चली जा रही है चंचल अविराम
थकी हुई लहरों को देते दोनों तट विश्राम;
मैं भी तो चलता रहता हूँ निशिदिन आठों याम;
नहीं सुना मेरे भावों ने शांति-शांति, का नाम
लहरों को अपने अंगों में तट कर लेता लीन;
लीन करेगा कौन ? अरे, यह मेरा हृदय मलीन !!

———

यह तुम्हारा हास आया

यह तुम्हारा हास आया।

इन फटे से बादलों में कौनसा मधुमास आया?

यह तुम्हारा हास आया।

आँख से नीरव व्यथा के

दो बड़े आँसू बहे हैं,

सिसकियों में वेदना के

व्यूह ये कैसे रहे हैं?

एक उज्वल तीर-सा रवि-रश्मि का उल्लास आया।

यह तुम्हारा हास आया!

आह! वह कोकिल न जाने—

क्यों हृदय को चीर रोई?

एक प्रतिध्वनि सी हृदय में

क्षीण हो हो हाय! सोई!

किन्तु इससे आज मैं कितने तुम्हारे पास आया!

यह तुम्हारा हास आया!

ये गजरे तारों वाले

इस सोते संसार-बीच
जग कर सज कर रजनी वाले !
कहां बेचने ले जाती हो
ये गजरे तारों वाले ?

मोल करेगा कौन ?
सो रही हैं उत्सुक आँखें सारी।
मत कुम्हलाने दो,
सूनेपनमें अपनी निधियां न्यारी।

निर्झर के निर्मल जल में
ये गजरे हिला हिला धोना;
लहर लहर कर यदि चूमे तो,
किंचित विचलित मत होना।

होने दो प्रतिबिंब विचुंबित
लहरों में ही लहराना !
लो मेरे तारों के गजरे
निर्झर स्वर में यह गाना !

यदि प्रभात तक कोई आकर, तुमसे हाय न मोल करे।
तो फूलों पर ओस-रूप में, बिखरा देना सब गजरे !

श्री मती सुभद्रा कुमारी चौहान

झांसी की रानी

सिंहासन हिल उठे, राजवंशों ने भृकुटी तानी थी,
बूढ़े भारत में भी आई फिर से नई जवानी थी,
गुमी हुई आजादी की कीमत सबने पहचानी थी,
दूर फिरंगी को करने का सबने मन में ठानी थी.

चमक उठी सन् सत्तावन में वह तलवार पुरानी थी।
बुन्देले हरबोलों के मुख हमने सुनी कहानी थी।
खूब लड़ी मर्दानी वह तो झाँसी वाली रानी थी ॥

कानपूर के नाना की मुँह बोली बहन 'छबीली' थी,
लक्ष्मीबाई नाम, पिता की वह संतान अकेली थी,
नाना के संग पढ़ती थी वह नाना के संग खेली थी,
बरछी, ढाल, कृपाण कटारी उसकी यही सहेली थी,

वीर शिवाजी की गाथाएँ उसको याद जबानी थी।
बुन्देले हरबोलों के मुख हमने सुनी कहानी थी।
खूब लड़ी मर्दानी वह तो झाँसी वाली रानी थी ॥

लक्ष्मी थी या दुर्गा थी वह स्वयं वीरता की अवतार,
देख मराठे पुलकित होते उसके तलवारों के वार,
नकली युद्ध व्यूह की रचना और खेलना खूब शिकार,
सैन्य घेरना, दुर्ग तोड़ना ये थे उसके प्रिय खिलवार.

महाराष्ट्र-कुल-देवी उसकी भी आराध्य भवानी थी
बुन्देले हरबोलों के मुख हमने सुनी कहानी थी
खूब लड़ी मरदानी वह तो झाँसी वाली रानी थी।

हुई वीरता के वैभव के साथ सगाई झाँसी में,
ब्याह हुआ रानी बन आई लक्ष्मी बाई झाँसी में,
राजमहल में बजी बधाई खुशियाँ छाईं झाँसी में,
सुभट बुंदेलों की विरुदावलि सी वह आई झाँसी में,

चित्रा ने अर्जुन को पाया, शिव से मिली भवानी थी।
बुन्देले हर बोलों के मुख हमने सुनी कहानी थी।
खूब लड़ी मर्दानी वह तो झाँसी वाली रानी थी॥

उदित हुआ सौभाग्य! मुदित महलों में उजियाली छाई,
किंतु काल-गति चुपके चुपके काली घटा घेर लाई,
तीर चलाने वाले कर में उसे चूड़िया कब भाईं,
रानी विधवा हुई हाय। विधि को भी नहीं दया आई,

निःसन्तान मरे राजाजी रानी शोक समानी थी।
बुन्देले हर बोलों के मुख हमने सुनी कहानी थी।
खूब लड़ी मर्दानी वह तो झाँसी वाली रानी थी॥

बुझा दीप झाँसी का तब डलहौज़ी मन में हरषाया,
राज्य हड़प करने का उसने यह अच्छा अवसर पाया,
फ़ौरन फौजें भेज दुर्ग पर अपना झंडा फहराया,
लावारिस का वारिस बनकर ब्रिटिश-राज्य झाँसी आया,

अश्रुपूर्ण रानी ने देखा झाँसी हुई विरानी थी।
बुन्देले हरबोलों के मुख हमने सुनी कहानी थी।
खूब लड़ी मर्दानी वह तो झाँसी वाली रानी थी॥

अनुनय विनय नहीं सुनता, है विकट शासकों की माया,
व्यापारी बन दया चाहता था यह जब भारत आया,
डलहौजी ने पैर पसारे अब तो पलट गई काया,
राजाओं नव्वाबों को भी उसने पैरों ठुकराया,

रानी दासी बनी, बनी यह दासी अब महारानी थी।
बुन्देले हरबोलों के मुख हमने सुनी कहानी थी।
खूब लड़ी मर्दानी वह तो झाँसी वाली रानी थी॥

छिनी राजधानी देहली की लखनऊ छीना बातों-बात,
कैद पेशवा था बिठूर में, हुआ नागपुर का भी घात,
उदैपुर, तंजोर, सतारा, कर्नाटक की कौन बिसात,
जबकि सिंध, पंजाब, ब्रह्म पर अभी हुआ था वज्र-निपात

बंगाले, मद्रास आदि की भी तो यही कहानी थी।
बुन्देले हरबोलों के मुख हमने सुनी कहानी थी।
खूब लड़ी मर्दानी वह तो झाँसी वाली रानी थी॥

रानी रोई रनिवासों में, बेगम गम में थी बेज़ार,
उनके गहने कपड़े बिकते थे कलकत्ते के बाज़ार,
सरे आम नीलाम छापते थे अंग्रेज़ों के अखबार,
'नागपुर के ज़ेवर ले लो' 'लखनऊ के लो नौलख हार',

यों परदे की इज्जत परदेशी के हाथ बिकानी थी
बुन्देले हरबोलों के मुख हमने सुनी कहानी थी
खूब लड़ी मर्दानी वह तो झाँसी वाली रानी थी।

कुटियों में थी विषम वेदना, महलों में आहत अपमान,
वीर सैनिकों के मन में था अपने पुरुषों का अभिमान,
नाना धुन्धूपंत पेशवा जुटा रहा था सब सामान,
बहिन छबीली ने रणचण्डी का कर दिया प्रकट आह्वान,

हुआ यज्ञ प्रारम्भ, उन्हें तो सोई ज्योति जगानी थी
बुन्देले हरबोलों के मुख हमने सुनी कहानी थी
खूब लड़ी मर्दानी वह तो झाँसी वाली रानी थी॥

महलों ने दी आग झोंपड़ी ने ज्वाला सुलगाई थी,
यह स्वतन्त्रता की चिनगारी अंतर तम से छाई थी,
झाँसी चेती, दिल्ली चेती, लखनऊ लपटें छाई थी,
मेरठ, कानपूर, पटना ने भारी धूम मचाई थी,

जबलपुर, कोल्हापुर में भी कुछ हलचल उकसानी थी
बुन्देले हरबोलों के मुख हमने सुनी कहानी थी
खूब लड़ी मर्दानी वह तो झाँसी वाली रानी थी।

इस स्वतंत्रता महायज्ञ में कई वीरवर आये काम,
नाना धुंधूपंत, ताँतिया, चतुर अजीमुल्ला सरनाम,
अहमदशाह, मौलवी, ठाकुर कुँवरसिंह सैनिक अभिराम,
भारत के इतिहास-गगन में अमर रहेंगे जिनके नाम,

लेकिन आज जुर्म कहलाती उनकी जो कुर्बानी थी।
बुन्देले हरबोलों के मुख हमने सुनी कहानी थी।
खूब लड़ी मर्दानी वह तो झाँसी वाली रानी थी ॥

इनकी गाथा छोड़ चलें हम झाँसी के मैदानों में,
जहाँ खड़ी है लक्ष्मीबाई मर्द बनी मर्दानों में,
लेफ्टिनेंट वौकर आ पहुँचा आगे बढ़ा जवानों में,
रानी ने तलवार खींचली हुआ द्वन्द्व असमानों में,

जख्मी होकर वाकर भागा उसे अजब हैरानी थी।
बुन्देले हरबोलों के मुख हमने सुनी कहानी थी।
खूब लड़ी मर्दानी वह तो झांसी वाली रानी थी ॥

रानी बढ़ी कालपी आई कर सौ मील निरंतर पार,
घोड़ा थक कर गिरा भूमि पर गया स्वर्ग तत्काल सिधार,
यमुना-तट पर अंग्रेजों ने फिर खाई रानी की हार,
विजयी रानी आगे चलदी किया ग्वालियरपर अधिकार,

अंग्रेजों के मित्र सेंधिया ने छोड़ी राजधानी थी।
बुंदेले हरबोलों के मुख हमने सुनी कहानी थी।
खूब लड़ी मर्दानी वह तो झाँसी वाली रानी थी ॥

विजय मिली, पर अंगरेजों की फिर सेना घिर आई थी,
अब के जनरल स्मिथ सन्मुख था उसने मुँह की खाई थी,
काना और मंदिरा सखियाँ रानी के संग आई थीं,
युद्ध-क्षेत्र में उन दोनों ने भारी मार मचाई थी,

पर, पीछे ह्यू रोज आगया, हाय घिरी अब रानी थी।
बुन्देले हरबोलों के मुख हमने सुनी कहानी थी।
खूब लड़ी मर्दानी वह तो झाँसी वाली रानी थी।

तो भी रानी मार काट कर चलती बनी सैन्य के पार,
किन्तु सामने नाला आया, था यह संकट विषम अपार,
घोड़ा अड़ा नया नया घोड़ा था, इतने में आगये सवार,
रानी एक शत्रु बहुतेरे, होने लगे वार पर वार,

घायल होकर गिरी सिंहनी उसे वीर गति पानी थी।
बुन्देले हरबोलों के मुख हमने सुनी कहानी थी।
खूब लड़ी मर्दानी वह तो झाँसी वाली रानी थी॥

रानी गई सिधार! चिता अब उसकी दिव्य सवारी थी,
मिला तेज से तेज, तेज की वह सच्ची अधिकारी थी,
अभी उम्र कुल तेइस की थी, मनुज नहीं अवतारी थी,
हमको जीवित करने आई बन स्वतंत्रता नारी थी,

दिखा गई पथ, सिखा गई हमको जो सीख सिखानी थी।
बुन्देले हरबोलों के मुख हमने सुनी कहानी थी।
खूब लड़ी मर्दानी वह तो झाँसी वाली रानी थी।

जाओ रानी, याद रखेंगे यह कृतज्ञ भारतवासी,
यह तेरा बलिदान जगावेगा स्वतंत्रता अविनाशी,
होवे चुप इतिहास, लगे सचाई को चाहे फाँसी,
हो मदमाती विजय मिटादे गोलों से चाहे झाँसी,

तेरा स्मारक तू ही होगी, तू खुद अमिट निशानी थी।
बुन्देले हरबोलों के मुख हमने सुनी कहानी थी।
खूब लड़ी मर्दानी वह तो झाँसी वाली रानी थी॥

विजयादशमी

विजये तूने तो देखा है वह विजयी श्रीराम, सखी!
धर्मभीरु, सात्विक, निश्छलमन, वह करुणा का धाम, सखी!
वनवासी, असहाय और फिर हुआ विधाता वाम, सखी।
हरी गई सहचरी जानकी वह व्याकुल घनश्याम, सखी!
कैसे जीत सका रावण को रावण सम्राट, सखी!
सोने की लंका थी उसकी सजे राजसी ठाट, सखी!
रक्षक राक्षस सैन्य सबल था. प्रहरी सिंधु विराट, सखी!
नर ही नहीं देव डरते थे सुनकर उसकी डाट, सखी!
राम-समान हमारा भी तो रहा नहीं अब राज, सखी!
राज-दुलारों के तन पर हैं सजे फ़कीरी साज, सखी!
हो असहाय भटकते फिरते वनवासी से आज, सखी!
सीता-लक्ष्मी हरी किसी ने गई हमारी लाज, सखी!
आशा की सन्देश सुनाती तू हमको प्रति वर्ष, सखी!
इसीलिए तेरे आने पर होता अतिशय हर्ष, सखी!
रामचन्द्र की विजय कथा का भेद बता आदर्श, सखी!
पराधीनता से छूटे यह प्यारा भारतवर्ष, सखी!

पर इतने ही से होता है, किसे भला संतोष, सखी !
ज़रा हृदय तो देख, भरे हैं यहां रोष के कोष, सखी !
वह दिन था, जब दिया किसी ने रण में ज़रा प्रचार, सखी !
मिटा दिया यम को भी हमने, हुआ हमारा बार, सखी !
और, आज तू देख देख, ये सबल बचाते प्राण, सखी !
रण से पिछड़ पड़े, कहते हैं करो देश का त्राण, सखी !
छिड़ा आज यह पाप-पुण्य का युद्ध अनोखा एक, सखी !
मर जावें, पर साथ न देंगे पापों का, है टेक सखी !
सबलों को कुछ सीख सिखाओ मरें करें उद्धार सखी !
दानव दल दें, पाप मसल दें, मेटें अत्याचार, सखी !
सबल पुरुष यदि भीरु बनें तो हमको दे वरदान, सखी !
अबलाएँ उठ पड़ें देश में करें युद्ध घमसान, सखी !
देखें फिर इस जगतीतल में होगी कैसे हार सखी !
भारत-माँ की बेड़ी काटें होवे बेड़ा पार, सखी !
दो; विजये, यह आत्मिक बल दो; वह हुंकार मचाने दो !
अपनी निर्बल आवाज़ों से दुनियाँ को दहलाने दो !
'जय स्वतंत्रिणी भारत-माँ !" यों कहकर मुकुट लगाने दो !
हमें नहीं, इस भूमंडल को, माँ पर बलि बलि जाने दो !
पापों के गढ़ टूट पड़ेंगे रहना तुम तैयार, सखी !
विजये हम-तुम मिल कर लेंगी अपनी माँ का प्यार, सखी !

मैंने हँसना सीखा है

मैंने हँसना सीखा है, मैं नहीं जानती रोना ।
बरसा करता पल-पल पर, मेरे जीवन में सोना ॥
मैं अब तक जान न पाई, कैसी होती है पीड़ा ?
हँस हँस जीवन में कैसे, करती है चिंता क्रीड़ा ?
जग है असार सुनती हूँ, मुझ को सुख-सार दिखाता ।
मेरी आँखों के आगे, सुख का सागर लहराता ॥
कहते हैं होती जाती, खाली जीवन की थाली ।
पर मैं उसमें पाती हूँ, प्रतिपल मदिरा मतवाली ॥
उत्साह, उमंग निरंतर, रहते मेरे जीवन में ।
उल्लास विजय कर हँसता, मेरे मतवाले मन में ॥
आशा आलोकित करती, मेरे जीवन के प्रतिक्षण ।
हे स्वर्ण-सूत्र से वलयित, मेरी असफलता के धन ॥
सुख-भरे सुनहले बादल, रहते हैं मुझ को घेरे ।
विश्वास, प्रेम, साहस हैं, जीवन के साथी मेरे ॥

श्री हरि कृष्ण प्रेमी

उत्साह

(१)

मुझे होलिका चली जलाने, स्वयं भस्म हो गई अभागिन।
स्वयं काल की ग्रास बन गई मुझ को खाने वाली बाघिन।
जिस दिन जगत् मारने मुझको भरकर लाया विष का प्याला।
उस दिन मुझमें अमर नशा बन झूम उठा जीवन मतवाला।

अमर अनल-पक्षी हूँ मैं तो
मुझको मरन का क्या भय है।
मेरी राख जी उठी फिर से,
होता जग को क्यों विस्मय है?

(२)

मेरे पंख वायु के, इनको काट सकेगा कोई, बोलो?
मैं तो पानी की धारा हूँ, सुदृढ पर्वतो छाती खोलो।
मेरे उर में झाँक झाँक कर देखो तुम अपनी तसवीरें।
बालू के कण-कण में अङ्कित गिरिमालाओं की तकदीरें।

अपने बंदी-गृह में मुझको
पकड़-जकड़ कर रखने वाले,
बाहर देखो, भग्न पड़े हैं,
वे लोहे से निर्मित ताले।

(३)

मेरी लाश गाड़ने को जब कब्र खोदने चली कुदाली।
बोली भूमि, 'यहाँ तो जालिम को लाने की इच्छा पाली।'
मेरा जीवन जग के कण-कण में व्यापक है मुझ को मारे।
इतनी जान किसी में है क्या, आँखें खोल, अरे हत्यारे!

मेरी एक-एक लोहू की
बूंद, अमर जीवन का प्याला।
भोले, मेरी छाती में तुम
छेद रहे हो अपना भाला।

(४)

मेरी आँखें चमक रही हैं नभ के नक्षत्रों में जग-मग।
गाड़ रहा है मेरी आँखों में क्यों तप्त शलाकाएँ जग।
मेरी काया की रग, जग की राहों की बिखरी रेखाएँ।
मेरे पथ के दीपक को क्यों व्यर्थ बुझाने चली हवाएँ।

अंधकार को मैंने अपने
ऊपर ओढ़ लिया चादर सा।
मेरे लिए मरण का वर भी,
सुखकर जीवन-धन के घर सा ?

(५)

मैंने अपने बीज बो रखे हैं; भविष्य के मैदानों में।
मुझ को कूट रहे हो क्या तुम अपने ओछे खलिहानों में।
मैंने बिठा लिया रवि-शशि को अपने अंबर से प्राणों में।
मुझ पर व्यर्थ चलाता है जग विष भर-भर तीखे बाणों में।

कोमल रोग बन गए जग के
शत-शत शर मेरी काया में।
जीता कब तक जुल्म बचेगा
मेरे शासन की छाया में।

(६)

मेरे गीत बन रहे निर्झर, प्राण बह रहे हैं सागर में।
मुझको भरने को आए हो तुम ओछेपन की गागर में।
मेरा मौन मुखर हो उठता है भूकंपों की हलचल में।
मेरी क्षमा वज्र बन जाती प्रलयंकर जलदों के दल में।

ऊँचे-ऊँचे महल उठाते
हैं क्यों मेरे आगे मस्तक।
टिक सकता है गर्व किसी का
महाकाल के आगे कब तक।

(७)

बहते हैं मेरी छाती पर जगत् जहाजों से छहुचाते।
मुझको मछली समझ फँसाने को तुम अपने जाल बिछाते
मेरे प्राणों में तुम झाँको, तुमसे कितने वहाँ सो गए।
विजय खोजने जो आए थे, विफल होगए, स्वयं खोगए।

मैंने लाद रखी युग-युग से;
अपने सर पर वसुधा सारी।
शेषनाग का फन काटेगा
जग के साहस की बलिहारी!

(८)

मैं अपने आँसू के कण से धो सकता अस्तित्व तुम्हारा।
मुझ पर उठा रहे हो पागल कुछ भी सोचे बिना दुधारा।
मेरी एक फूँक से उड़ने लगजाते हैं गिरि अम्बर में।
तुम पतंग सा चले उड़ाने, मुझे डोर से बांध, अधर में!

औरों से खिलवाड़ करो मत,
तुम अपना अस्तित्व संभालो।
जिस पर खड़े, खिसकती है वह
भूमी, उसे तो देखो-भालो।

(९)

मैंने जान लिया है जीना, मरना, खिलना, फिर मुरझाना।
मेरे लिए एक हैं दोनों भैरव या विहाग का गाना।
जीवन और मरण दोनों हैं, प्राणों के ताने-बाने से।
मैं न रहूँगा दोनों में से, एक चीज के मिट जाने से।

तुम तलवार उठा कर आए,
मेरे सर को आज उड़ाने।
किसने किरणों को काटा है,
किस पर आए शस्त्र चलाने।

(१०)

युग-युग से है जुल्म कह रहा, 'आजादी का नाम मिटादूँ।
उड़ने वाले जो पंछी हैं, उन्हें पकड़ कर पंख जलादूँ।
दिल दिल में जो दीपक जलता, उसे तोड़कर पथ पर फेंकूँ।
और न्याय के मन्दिर में मैं आग लगा कर आँखें सेंकूँ'।

किन्तु ज़ुल्म जल रहा स्वयं ही,
अपनी इच्छा की ज्वाला में।
उसे मरण का सर्प डस रहा;
है उसकी ही जय-माला में।

(२१)

स्वागत शीश काटने वाले, स्वागत मुझे मिलाने वाले !
दे तलवार मुझे, मैं भरदूँ अपने ही लोहू से प्याले।
मुझे जलाने को आए हो अपनी आप बुझाने वाले !
देखो, नभ में नव-जीवन पा हंसते शीश चढ़ाने वाले।

दीपक से दीपक जलता है,
ज्योति अमर माँ के मन्दिर की।
तुम दीपक की ज्योति बढ़ा दो,
बत्ती काटो मेरे सिर को।

रक्षा-बंधन

[४]

बहन, बाँध दे रक्षा-बंधन मुझे समर में जाना है
अब के घन गर्जन में रण का भीषण छिड़ा तराना है
दे आशीश, जननी के चरणों में यह शीश-चढ़ाना है
बहन, पोंछ ले अश्रु गुलामी का यदि दुःख मिटाना है

अन्तिम वार बाँध ले राखी,
कर ले प्यार आखिरी वार—
मुझ को, जालिम ने फाँसी की
डोरी कर रक्खी तैयार।

[२]

रक्षा, रक्षा कायरता से, मर मिटने का दे वरदान।
हृदय-रक्त से टीका कर दे, कर मस्तक पर लाल निशान।
वह जीवन का स्रोत आज कर मेरे मानस में संचार।
काँप न जाऊँ देख समर में रिपु की बिजली सी तलवार।

अपना शीश कटा जननी की
जय का मार्ग बनाना है।
बहन, बाँध दे रक्षा-बंधन
मुझे समर में जाना है!

[३]

जिसने लाखों ललनाओं के पोंछ दिए सर के सिंदूर।
गड़ा रहा कितनी कुटियाओं के दीपों पर आँखें क्रूर।
वज्र गिरा कर कितने कोमल हृदय कर दिये चकनाचूर।
उस पापी की प्यास बुझाने, बहन जा रहे लाखों शूर।

मृत्यु विटप की शाखा पर मैं
डाल हिंडोला झूलूँगा।
दो पगों में अमर लोक की
अन्तिम सीढ़ी चूमूँगा!

[४]

वहन शीश पर मेरे रख दे स्नेह-सहित अपना शुभ हाथ।
कटने के पहले न झुके यह ऊँचा रहे गर्व के साथ !
उस हत्यारे ने कर डाला, अपना सारा देश अनाथ !
आश्रयहीन हुई यदि तू भी, ऊँचा होगा तेरा माथ !

दीन भिखारिन बन कर तू भी
गली-गली फेरी देना !
'उठो बंधुओ, विजय-वधू को
वरो तभी निद्रा लेना !'

[५]

आज सभी देते हैं अपनी वहनों को अमूल्य उपहार !
मेरे पास रखा ही क्या है आँखों के आँसू दो-चार !
ला दो चार गिरा दूँ, आगे अपना अंचल विमल पसार !
तू कहती है, 'ये मणियाँ हैं इन पर न्योछावर संसार !'

वहन, बढ़ा दे चरण कमल, मैं
अन्तिम बार उन्हें लूँ चूम !
तेरे शुचि स्वर्गीय स्नेह के,
अमर नशे में लूँ अब झूम !

[६]

जिस कर में अब बाँध रही है तू अपनी राखी के तार,
उसे हृदय पर रख देना तू मुझे चिता पर रखती बार !
'मृत्यु गुलामी से सुन्दर है, कायरता से शुभ संहार !'
अपनी राखी के तारों में, बहन यही भर दो झंकार !

करुणा की किरणें चमका,
क्यों अपना रूप छिपाया ?

यह हृदय न जाने किसकी
सुधि में बेसुध हो जाता ?
छिप-छिप कर कौन हृदय की
वीणा के तार बजाता ?

क्या जाने नीरव नभ से
किसका आमंत्रण आता ?
उस लक्ष्यहीन पक्षी-सा
किस ओर उड़ा-सा जाता ?

इस 'महाशून्य' में किसका
मैं अनुभव कर मुसकाती ?
मैं अपने ही कलरव को
क्यों नहीं समझने पाती ?

नभ के 'पर्दे' के पीछे
करता है कौन 'इशारे'।
सहसा किसने जीवन के
खोले हैं बंधन सारे ?

रुक सकी न इस कुटिया में,
रह सकी न मैं मन मारे ?
हो अब प्रवाह ही जीवन,
छूटें सब कूल किनारे ।

जग के सुख-दुख से मेरा
अब टूट चुका है नाता ।
पर, समझ नहीं पाई हूँ
है मुझको कौन बुलाता ?

किसका अभाव मानस में
सहसा शशि-सा आ चमका ?
हैं क्या रहस्य बतला दे
कोई इस अन्तर्तम का ।

इन सरल तरल नयनों में
किसकी उज्ज्वल छवि छाई ?
किसने मेरे प्राणों में
अपनी तसवीर बनाई ।

'जलजात' हृदय का मेरे
कोई 'अज्ञात' खिलाता ।
मेरे जीवन के रवि का
कुछ पता नहीं चल पाता

संध्या के समय हृदय में
कैसा प्रभात-सा आया ?
किसकी किरणों ने छूकर
प्राणों को आज जगाया ?

श्री हरिवंशराय 'बच्चन'

लहरों का निमंत्रण

(१)

तीर पर कैसे रुकूँ मैं
आज लहरों में निमन्त्रण !
रात का अन्तिम प्रहर है,
झिलमिलाते हैं सितारे,
वृक्ष पर युग बाहु बाँधे
मैं खड़ा सागर किनारे,

वेग से बहता प्रभंजन
केश-पट मेरे उड़ाता,

शून्य में भरता उदधि
उर की रहस्यमयी पुकारें

इन पुकारों की प्रतिध्वनि
हो रही मेरे हृदय में,
है प्रतिच्छायित जहाँ पर
सिंधु का हिल्लोल-कंपन .
तीर. पर कैसे रुकूँ मैं,
आज लहरों में निमंत्रण ?

(२)

विश्व की संपूर्ण पीड़ा
सम्मिलित हो रो रही है !
शुष्क पृथ्वी आँसुओं से
पाँव अपना धो रही है,
इस धरा पर जो बसी दुनियाँ
यही अनुरूप उसके——
इस व्यथा से हो न विचलित
नींद सुख की सो रही है;
क्यों धरणी अबतक न गल कर
लीन जलनिधि में गई हो ?
देखते क्यों नेत्र कवि के
भूमि पर जड़-तुल्य जीवन
तीर पर कैसे रुकूँ मैं
आज लहरों में निमंत्रण !

(३)

जड़ जगत में वास कर भी
जड़ नहीं व्यवहार कवि का,
भावनाओं से विनिर्मित
और ही संसार कवि का
बूँद के उच्छ्वास को भी
अनसुनी करता नहीं वह

किस तरह होता उपेक्षा
पात्र पारवार कवि का ?
विश्व-पीड़ा से सुपरिचित
हो तरल बनने, पिघले
त्याग कर आया यहाँ कवि
स्वप्न लोकों के प्रलोभन ?
तीर पर कैसे रुकूँ मैं
आज लहरों में निमंत्रण ?

(४)

जिस तरह मरु के हृदय में
है कहीं लहरा रहा सर,
जिस तरह पावस पवन में
है पपीहे का छिपा स्वर,
जिस तरह से अश्रु आहों से
भरी कवि की निशा में
नींद की परियाँ बनातीं
कल्पना का लोक सुखकर,
सिन्धु के इस तीव्र हाहा-
कार ने, विश्वास मेरा
है छिपा रक्खा कहीं पर
एक रस-परिपूर्ण गायन
तीर पर कैसे रुकूँ मैं,
आज लहरों में निमन्त्रण !

(५)

नेत्र सहसा आज मेरे
तम-पटल के पार जाकर
देखते हैं रत्न-सीपी से
बना प्रासाद सुन्दर
है खड़ी जिसमें उषा ले
दीप कुञ्चित रश्मियों का,
ज्योति में जिसकी सुनहली
सिन्धु—कन्याएँ मनोहर
गूढ़ अर्थों से भरी मुद्रा
बना कर गान करतीं
और करतीं अति अलौकिक
ताल पर उन्मत्त नर्तन।
तीर पर कैसे रुकूँ मैं
आज लहरों में निमंत्रण!

(६)

मौन हो गंधर्व बैठे
कर श्रवण इस गान का स्वर
वाद्य-यन्त्रों पर चलाते
हैं नहीं अब हाथ किन्नर,
अप्सराओं के उठे जो
पग उठे ही रह गए हैं,

कर्ण उत्सुक, नेत्र अपलक
साथ देवों के पुरन्दर
एक अद्भुत और अविचल
चित्र-सा है जान पड़ता,
देव-बालाएँ विमानों से
रहीं कर पुष्प वर्षण
तीर पर कैसे रुकूँ मैं,
आज लहरों में निमन्त्रण !

(७)

दीर्घ उर में भी जलधि के
हैं नहीं खुशियाँ समाती,
बोल सकता कुछ न उठती
फूल बारम्बार छाती ।
हर्ष रत्नागार अपना
कुछ दिखा सकता जगत को
भावनाओं से भरी यदि
यह फफक कर फूट जाती ।
सिंधु जिस पर गर्व करता
और जिसकी अर्चना को
स्वर्ग झुकता, क्यों न उसके
प्रति करे कवि अर्घ्य-अर्पण,
तीर पर कैसे रुकूँ मैं
आज लहरों में निमंत्रण ।

(८)

आज अपने स्वप्न को मैं
सच बनाना चाहता हूँ,
दूर की इस कल्पना के
पास जाना चाहता हूँ,
चाहता हूँ तैर जाना
सामने अंबुधि पड़ा जो

कुछ विभा उस पार की
इस पार लाना चाहता हूँ,
स्वर्ग के भी स्वप्न भू पर
देख उन से दूर ही था,
किंतु पाऊँगा नहीं कर
आज अपने पर नियन्त्रण,
तीर पर कैसे रुकूँ मैं
आज लहरों में निमन्त्रण!

(९)

लौट आया यदि वहां से
तो यहाँ नव युग लगेगा,
नव प्रभाती गान सुन कर
भाग्य जगती का जगेगा,
शुष्क जड़ता शीघ्र बदलेगी
सरस चैतन्यता में,

यदि न पाया लौट मुझको
लाभ जीवन कर मिलेगा,
पर पहुँच ही यदि न पाया
व्यर्थ क्या प्रस्थान होगा ?
कर सकूँगा विश्व में फिर
भी नये पथ का प्रदर्शन,
तीर पर कैसे रुकूँ मैं
आज लहरों में निमन्त्रण !

(१०)

स्थल गया है भर पथों से
नाम कितनों के गिनाऊँ;
स्थान बाकी है कहाँ, पथ
एक अपना ही बनाऊँ ?
विश्व तो चल रहा है
थाम राह बनी बनाई,
किन्तु इन पर किस तरह मैं
कवि-चरण अपने बढाऊँ।
राह जल पर भी बनी है,
रूढि, पर न हुई कभी वह,
एक तिनका भी बना सकता
यहाँ पर मार्ग नूतन !
तीर पर कैसे रुकूँ मैं
आज लहरों में निमंत्रण !

(११)

देखता हूँ आँख के आगे
नया यह क्या तमाशा-
कर निकल कर दीर्घ जल से
हिल रहा करता मना:सा
है हथेली-मध्य चित्रित
नीर-मग्नप्राय बेडा !

मैं इसे पहचानता हूँ
है नहीं क्या यह निराशा ?
हो पडीं उद्दाम इतनी
उर-उमंगे, अब न उनको
रोक सकता भय निराशा को
न आशा का प्रवंचन ।
तीर पर कैसे रुकूँ मैं
आज लहरों में निमन्त्रण !

(१२)

पोत अगणित इन तरंगों ने
डुबाये, मानता मैं,
पार भी पहुँचे बहुत से
बात यह भी जानता मैं,

किंतु होता सत्य यदि यह
भी, सभी जलयान डूबे

पार जाने की प्रतिज्ञा
आज बरबस ठानता मैं

डूबता मैं, किन्तु उतराता
सदा व्यक्तित्व मेरा,
हों युवक डूबें भले ही
है कभी डूबा न यौवन!
तीर पर कैसे रुकूँ मैं
आज लहरों में निमन्त्रण!

(१३)

आ रहीं प्राची क्षितिज से
खींचने वाली सदाएँ,
मानवों के भाग्य-निर्णायक
सितारो! दो दुआएँ,

नाव, नाविक, फेर ले जा
है नहीं कुछ काम इसका,

आज लहरों से उलझने को
फड़कती हैं भुजाएँ,

प्राप्त हो उस पार भी इस
पार या चाहे अंधेरा
प्राप्त हो युग की उषा
चाहे लुटाती नव-किरण-धन !
तीर पर कैसे रुकूँ मैं
आज लहरों में निमन्त्रण !

तारे गाते हैं।

कहते हैं, तारे गाते हैं!
सन्नाटा वसुधा पर छाया
नभ में हमने कान लगाया,

फिर भी अगणित कण्ठों का यह राग नहीं हम सुन पाते हैं!

कहते हैं तारे गाते हैं!
स्वर्ग सुना करता यह गाना,
पृथ्वी ने तो बस यह जाना,

अगणित ओस-कणों में तारों के नीरव आँसू आते हैं!

ऊपर देव, तले मानवगण,
नभ में दोनों गायन-रोदन,

राग सदा ऊपर को उठता, आँसू नीचे झर जाते हैं!

कहते हैं, तारे गाते हैं!



मधुबाला

(१)

मैं मधुबाला मधुशाला की !
मैं मधुशाला की मधुबाला !

मैं मधुविक्रेता की प्यारी,
मधु के घट मुझ पर बलिहारी,
प्यालों की मैं सुखमा सारी,

मेरा रुख देखा करती है
मधु-प्यासे नयनों की माला !
मैं मधुशाला की मधुबाला !

(२)

इस नीले अञ्चल की छाया
में जग ज्वाला का झुलसाया
आकर शीतल करता काया,

मधु-मरहम का मैं लेपन कर
अच्छा करती उर का छाला !
मैं मधुशाला की मधुबाला !

(३)

मधुघट ले जब करती नूतन
मेरे नूपुर की छूम-छनन
में लय होता जग का क्रंदन

झूमा करता मानव जीवन
का क्षण-क्षण बनकर मतवाला !
मैं मधुशाला की मधुबाला !

(४)

मैं इस आँगन की आकर्षण,
मधु से सिंचित मेरी चितवन,
मेरी वाणी में मधु के कण,

मदमत्त बनाया मैं करती,
यश लूटा करती मधुशाला !
मैं मधुशाला की मधुबाला,

(५)

था एक समय, थी मधुशाला,
था मिट्टी का घट, था प्याला,
थी किंतु नहीं साकीबाला,

था बैठा ठाला विक्रेता
दे बंद कपाटों पर ताला !
मैं मधुशाला की मधुबाला !

(६)

तब इस में था तम छाया,
था भय छाया, था भ्रम छाया
था मातम छाया, गम छाया,

ऊषा का दीप लिए सिर पर
मैं आई करती उजियाला !
मैं मधुशाला की मधुबाला !

(७)

सोने की मधुशाला चमकी,
माणिक-द्युति से मदिरा दमकी,
मधु-गंध दिशाओं में गमकी,

चल पड़ा लिये कर में प्याला
प्रत्येक सुरा पीने वाला।
मैं मधुशाला की मधुबाला !

(८)

थे मदिरा के मृत-मूक घड़े,
थे मूर्ति-सदृश मधुपात्र खड़े,
थे जड़वत् प्याले भूमि पड़े,

जादू के हाथों से छू कर
मैंने इनमें जीवन डाला।
मैं मधुशाला की मधुबाला!

(९)

मुझको छूकर मधुघट छलके,
प्याले मधु पीने को ललके,
मालिक जागा मल कर पलकें,

अङ्गड़ाई लेकर उठ बैठी
चिर-सुप्त, विमूर्छित मधुशाला!
मैं मधुशाला की मधुबाला!

प्यासे आये मैंने आँका;
वातायन से मैंने झाँका;
पीने वालों का दल बाँका।

स्वप्नों की दुनियाँ में भूला
फिरता मानव भोलाभाला ।
मैं मधुशाला की मधुबाला !